# भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत

# भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत

## श्री अरविन्द घोष के राष्ट्रीय विचारों का एक अध्ययन
## (१८९३–१९१०)

डॉ० कर्णसिंह



थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड, प्रकाशन विभाग
नयी दिल्ली

प्रथम संस्करण
अक्तूबर, १९७०

अनुवादक पद्मिनी मेनोन
पुनरीक्षक डॉ० हरिवंशराय बच्चन
सम्पादक रमेश वर्मा

थामसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड (प्रकाशन विभाग) कनाट सर्कस, नयी दिल्ली से प्रकाशित और ए० के० मुकर्जी द्वारा थामसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड फ़रीदाबाद हरियाणा में मुद्रित।

आदर और श्रद्धापूर्वक
पं० जवाहरलाल नेहरू को समर्पित

# भूमिका

यह पुस्तक श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालती है। इसमें सन् १८९३ से १९१० ई० तक की अवधि का विवेचन है जिसमें चौदह वर्ष तक अर्थात् सात वर्ष की आयु से इक्कीस वर्ष की आयु तक तो वह इग्लैण्ड में रहे, फिर सन १९१० तक भारत में रहकर अचानक कलकत्ते से चन्द्र नगर और वहाँ से पाण्डिचेरी चले गए। इस प्रकार यह अठारह वर्षों का वृत्तान्त है जिसमें आरम्भिक अवस्था के बारह वर्ष भी है जो बडौदा में बीते थे, और सन् १९०५ से १९१० ई० तक की वह छोटी अवधि भी सम्मिलित है जिसमें उनका सक्रिय राजनीतिक जीवन उल्का के समान तेजी से बीता।

आधुनिक भारत के इतिहास में सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) का जन्म एक प्रमुख युगान्तरकारी घटना थी। अपने जन्म के बाद अनेक वर्षों तक वह दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, महादेव गोविन्द रानडे, रास बिहारी घोष और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे सुयोग्य और असाधारण देश-भक्तों के हाथ में रही जो उदारदलीय या मध्यम-वर्गी नेता कहलाते थे। सदेहातीत गुणों से समन्वित रहते हुए भी वे उदारदलीय नेता भारत की विशाल जनता को अनुप्राणित या उत्तेजित करने में असमर्थ रहे, क्योंकि वे राजनीति की दिशा में फूँक फूँक कर पैर रखते थे और उनकी क्रियाविधि में ओज न था। राष्ट्रीय आन्दोलन को कुछ नेताओं के बुद्धि विलास मात्र का विषय न रखकर जनसाधारण के आन्दोलन में परिणत करने का भार जिनके कन्धों पर आया वे उग्रवादी या तीव्र सुधारवादी कहलाते थे। उनमें बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे सिंह-पुरुष थे। उनमें भी कई बातों में श्री अरविन्द का व्यक्तित्व सर्वाधिक आकर्षक था। वह आगे चलकर भारत के महान योगी और दार्शनिक के रूप में ससार में प्रसिद्ध हुए।

वह एक गहन और मौलिक विचार पद्धति के प्रवर्त्तक थे। अरविन्द का योगदान राष्ट्रीय आन्दोलन की आरम्भिक अवस्था में अल्प विदित होने पर भी बहुत महत्त्वपूर्ण और विशेष अध्ययन के योग्य है। बौद्धिक और साहित्यिक दृष्टि से प्रसिद्ध अपने समकालीन महान व्यक्तियों में वह सबसे अधिक प्रतिभासम्पन्न थे और नई शताब्दी के उस काल में भारत में चले उग्र आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि में जो राजनीतिक विचारधारा विद्यमान थी उस पर उनकी रचनाएँ अत्यधिक प्रकाश डालती है। वह भावुकता से ओतप्रोत थे और उनकी बुद्धि मौलिकता से भरपूर थी। अंग्रेजी भाषा में उनकी अपार गति थी। उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ गहन आध्यात्मिक आवेश और ज्वलन्त देशभक्ति के कारण अद्वितीय हैं। आधुनिक भारतीय इतिहास के एक निर्णायक समय में उनके राष्ट्रीय विचारों का अध्ययन ही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

पहला भाग, 'भारत पर ब्रिटिश प्रभाव—आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म' भूमिका के रूप में है। इस भाग में भारत पर ब्रिटिश शासन के बहुमुखी प्रभाव और उसके फलस्वरूप आविर्भूत नव-जागरण की रूपरेखा का विवरण है। हिन्दू समाज में हुए सामाजिक और धार्मिक सुधारों का वर्णन किया गया है और श्री अरविन्द की देन का मूल्यांकन करने के लिए मैंने इस चित्रपट को यथाशक्य विस्तृत रखने का प्रयत्न किया है।

दूसरा भाग, 'श्री अरविन्द—राजनैतिक जीवन की तैयारी' तीन अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय, उनके प्रारम्भिक जीवन और इग्लण्ड में बीते यौवनकाल के उन वर्षों पर प्रकाश डालता है जिसमें केम्ब्रिज में रहते समय उनमें राष्ट्रीय प्रेरणाएँ जागृत हुई। दूसरे अध्याय में सन् १८९३ में उनके भारत वापस आने का और बडौदा में कई वर्षों तक रहने का उल्लेख है, जब उनका सक्रिय राजनीति से सम्पर्क बढ़ा। यह काल उनकी आरम्भिक रचनाओं के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन १८९३–९४ में लिखित 'न्यू लम्प्स फॉर ओल्ड' (पुराने दीपों की जगह नये दीप) नामक लेख और सन् १८९४ में बंकिम चन्द्र चटर्जी विषयक लेख सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। इसी काल में गुप्त

क्रान्तिकारी दलो से उनका सम्पर्क स्थापित हुआ। तीसरे अध्याय मे उस अनुकूल अवसर का उल्लेख है जिसमे लॉर्ड कर्जन द्वारा सन् १९०५ मे किए गए बग भग के परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीयता की तीव्र वृद्धि हुई। बग-भग का बगाल मे तीव्र विरोध हुआ और बगाल ही नही, देश के अन्य भागो म भी उग्रवाद के उद्भव का भाग प्रशस्त हो गया। इसने श्री अरविन्द को बडौदा की गुप्त कारवाइया छोड कर राष्ट्रीय सघर्ष मे खुलकर भाग लेने को विवश कर दिया।

तीसरे भाग का शीर्षक है 'श्री अरविन्द के दर्शन का आध्यात्मिक आधार और उनका राजनीतिक लक्ष्य'। इस भाग मे मैंने श्री अरविन्द को एक सूक्ष्म सम्प्रत्ययवादी के रूप मे चित्रित किया है, उनके दर्शन अर्थात् आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उससे हम उनके राष्ट्रीय सिद्धान्त के मर्म तक पहुँच सकते हैं जिसे आध्यात्मिक राष्ट्रीयतावाद नाम दिया जा सकता है। उनकी राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्रीयता की धारणा और पूर्ण स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय लक्ष्य का निरूपण करने के लिए अलग-अलग अध्याय है। ये अध्याय उनके मातृभूमि के दैवी रूप के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसने उनको राष्ट्रीयता को ही धर्म और राष्ट्रीय आन्दोलन को ही धार्मिक 'साधना' मानने को प्रेरित किया था। उनकी देन का उचित मूल्याकन करने के लिए उनके राष्ट्रीय विचारो के आध्यात्मिक आधार को समझना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी आरम्भिक कृतियो मे प्राप्त आध्यात्मिक दृष्टिकोण शनै-शनै अधिक स्पष्ट होता गया है।

चौथे भाग का शीर्षक है 'क्रान्तिकारी नेता श्री अरविन्द—उनकी राजनीतिक कार्य विधि'। पहले अध्याय मे राष्ट्रीय कार्य-विधि मे उनके सामान्य दृष्टिकोण—प्रार्थना, निवेदन, प्रतिरोध आदि की उदारदलीयो की याचकवृत्ति की तिलाजलि—के समर्थन का विवेचन है। भारत के राष्ट्रीय तेज का पुनरुद्धार करने और उसकी सास्कृतिक परम्परा पर गर्व की भावना जगाने के प्रयत्नो का वर्णन दूसरे अध्याय मे है। स्पष्टतया श्री अरविन्द को लगा था कि पूर्ण स्वतन्त्रता के आन्दोलन में किसी प्रकार की भी सफलता प्राप्त करने के लिए इस प्रकार का नव जागरण जरूरी है। तीसरे अध्याय म प्रत्यक्ष क्रान्ति

की कारवाई और सशस्त्र विद्रोहात्मक कारवाई विषयक उनके विचारा पर प्रकाश डाला गया है। उनका मत था कि मातभूमि को व धन से मुक्त करान के लिए काई भी उपाय याय सगत है—आवश्यक हा तो हिंसा भी। चौथे अध्याय म अरवि द के सत्याग्रह और वहिष्कार के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। वह उन विरले व्यक्तियो मे से एक थे जिनके विचार आदर्शो के ऊँचे धरातल तक ही सीमित नही रह वरिक व्यावहारिक राष्ट्रीयता के क्षेत्र म भी उतरे और जि होन राष्ट्रीय लक्ष्य की सिद्धि के लिए निश्चित कारवाई भी निर्धारित की। उनके सिद्धान्ता के सकारात्मक और नकारात्मक दोनो ही पक्षा पर जोर दिया गया है। आर्थिक वहिष्कार के प्रतिविधान के लिए स्वदेशी वस्तुआ के विकास, प्रचलित शिक्षा के वहिष्कार के प्रतिविधान के लिए राष्ट्रीय शिक्षा की उनति यायालया के वहिष्कार के प्रतिविधान के लिए राष्ट्रीय मध्यस्थता यायालया का प्रचार और प्रशासका के वहिष्कार के प्रतिविधान के लिए राष्टीय सगठना को ज म देन के सुझाव उन्हान प्रस्तुत किए। इस प्रकार के वहिष्कारा का न मानन वालो के सामाजिक वहिष्कार का सिद्धान्त उ हान सुझाया। इस पूर वहिष्कार आ दालन की पृष्ठभूमि के स्पष्टीकरण के लिए मैंन सन १९०८ म १९१० ई० तक के सकटपूण समय की प्रमुख राष्ट्रीय घटनाआ का वणन किया है जिनम काग्रेस का सूरत अधिवशन भी सम्मिलित है जहा उदारदलीय और उग्रदलीय वर्गो का अन्त म परस्पर विच्छेद हा गया। अलीपुर वम केस के सिलसिले मे श्री अरवि द की नाटकीय गिरफ्तारी मुकदम की सुनवाई और रिहाई का भी विवरण दिया गया है।

इसी भाग म सन् १९१० म श्री अरवि द क सक्रिय राजनीति स स यास लन स सम्बधित एक अध्याय है। उनके सक्रिय राजनीति छाडन के अनक कारण वताए गए है जिनम से एक यह आराप भी है कि उन्हाने पुन गिरफ्तार हाने के डर मे और नैराश्य के कारण राजनीति का छाड दिया। मैंन यह दिखान की काशिश की है कि श्री अरविन्द अपन अन्त करण की आध्यात्मिक प्ररणा के कारण ही राष्ट्रीय क्षेत्र म विरत हुए।

अन्त मे पाचवे भाग मे मैंने राष्ट्रीय चिन्तक के रूप मे श्री अरविन्द का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है।

अन्त मे प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने अनेक कामो मे व्यस्त रहने पर भी इस कृति की मूल लिपि को पढकर प्रस्तावना लिखने की महती कृपा की। वह हमारे युग के महान नेताओ मे से है और उनके आशीर्वाद से मुझे बडा प्रोत्साहन मिला और इसीलिए मैंने यह पुस्तक उन्ही को समर्पित करने का साहस किया है।

कर्णसिंह

# भारतीय सस्करण की भूमिका

हमारा देश आज एक गतिशील प्रवाह की स्थिति म है। हाल म हुए आम चुनाव के बाद एक नई परिस्थिति पदा हुई है जिससे भारत के राष्ट्रीय वातावरण म नया जोश आया है। किन्तु नये भारत के निर्माण का बुनियादी काम अब भी जैसा का तैसा है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि आधी शताब्दी पूव श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित सक्रिय आध्यात्मिक राष्ट्रीयतावाद इस प्रयत्न म आश्चयजनक रूप से सहयोगी हो सकता है। जब तक हम आरम्भ काल के राष्ट्रीय आन्दोलन के ज्वलत आदशवाद को कम या अधिक परिमाण म अपना न लग तब तक अपने भावी माग की कठिन बाधाओ पर विजय पाने की कल्पना तक करना मुश्किल होगा। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि 'भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत' का यह भारतीय सस्करण अधिक पाठको म विशेष कर हमारे स्वप्नो के सुदर भारत के निर्माण मे प्रधान रूप से भागीदार स्वतन्त्र जनता म श्री अरविन्द के राष्ट्रीय सिद्धान्तो का प्रचार करने मे सहायक होगा।

कुछ वर्षो से हमारे विश्वविद्यालयो म आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय विचारो का अध्ययन अधिकाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। इस पुस्तक का पहला सस्करण सन् १९६२ म प्रकाशित हुआ था लेकिन अपने अधिक मूल्य के कारण, जो अवमूल्यन के बाद और भी बढ गया, वह विश्वविद्यालय के सामान्य विद्यार्थी की पहुँच के बाहर हो गया। मुझे इस बात का बडा हर्ष है कि प्रमुख साहित्यिक कृतियो को कम दाम पर प्रकाशित करने वाला 'भारतीय विद्या भवन' अपनी 'बुक यूनिवर्सिटी' सीरीज मे इस पुस्तक का भारतीय सस्करण प्रकाशित कर रहा है। आग्ल सस्करण मे अनुक्रमणिका का अभाव था जिसकी अब पूर्त्ति कर दी गई है।

४ मई, १९६७ कर्णसिंह

# हिन्दी सस्करण की प्रस्तावना

भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम की कहानी मे जिन विभूतियो मे अमिट योगदान की गाथा वर्णित है उनमें श्री अरविन्द का व्यक्तित्व एक निराली भूमिका प्रस्तुत करता है। दशन चिन्तन की गहनता, सारगर्भित कल्पना, वाणी के सौन्दय और प्राजलता से आत प्रोत उनके प्रोज्ज्वल आदशवाद ने हमारे समक्ष ऐसा प्रेरणा स्रोत प्रकट किया है जिसका स्पश करते ही जीवन व विचार जगत् म स्फूर्ति एव तेजस् निखर उठता है। जीवन की सचेतनता ही हमारी समस्त गतिविधि, प्रवृत्ति का मूलाधार है। अरविन्द-साहित्य से जगत के सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक विकास मे नवीन क्रान्ति जन्म लेगी, यह निर्विवाद है। उनके विचार भारत की वत्तमान राजनैतिक तथा सामाजिक विडम्बनाओ के समाधान ढूँढन के सन्दभ मे बहुत ही प्रेरक व साथक सिद्ध हो सकते है। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री के सरक्षण मे सन् १९७२ मे श्री अरविन्द की जन्म शताब्दी को राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समारोह पूवक मनाने के लिए एक समिति का गठन किया है जिसमे देश विदेश के विभिन्न वर्गों के विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित है।

'भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत का प्रथम अग्रेजी सस्करण सन १९६३ मे ग्रेट ब्रिटेन मे प्रकाशित हुआ था। विगत कुछ वर्षो से हमारे विश्वविद्यालया मे आधुनिक भारतीय राजनैतिक विचारधारा का अध्ययन अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है, किन्तु इस पुस्तक की कीमत अधिक होने के कारण आम छात्र के लिए उसे खरीदना कठिन था। अन्य क्षेत्रा से भी इसके सस्ते सस्करण के प्रकाशन की माग थी। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए 'भारतीय विद्या भवन' ने अपनी 'बुक युनिर्वासिटी सीरीज मे इसे कम मूल्य पर प्रकाशित कर उल्लेखनीय काय का सम्पादन किया है।

मेरी हार्दिक कामना है कि 'भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत' का हिन्दी संस्करण श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धान्तों को अधिक व्यापक रूप में पाठकों तक, विशेष रूप से युवा पीढ़ी तक, पहुँचाने में सहायक सिद्ध होगा क्योंकि यही पीढ़ी आगे चलकर हमारे सपनों के भारत के निर्माण में सक्रिय सहयोग देगी।

धराधो, नई दिल्ली
१३ अप्रैल, १९७०

कर्णसिंह

# प्राक्कथन

मैंने बडी रुचि से और यदा-क्दा कुछ भाव विभोर होकर इस छोटी-सी पुस्तक को पढा तो मुझे अपने बचपन और जवानी के वे दिन याद आ गए जब श्री अरविन्द 'व दे मारतम' मे अपन प्रसिद्ध लेख लिखा करते थे। मै उन दिनो इग्लैण्ड म स्कूल का छात्र था और बाद म केम्ब्रिज के कॉलेज मे रहा। भारत म होने वाली घटनाआ की सूचना मुझे कम ही मिल पाती थी, क्याकि इग्लण्ड म उनके समाचार कम ही पहुँचते थे। फिर भी कुछ बातें पहुँच ही जाती थी। बग-भग के विरोध मे हुए आ दोलन न हम लोगा के हृदय को भी जोश से भर दिया था। उन दिनो के विख्यात व्यक्तिया मे श्री अरविन्द का स्थान अग्रणी था और वह निस्सन्देह सभी नवयुवका के श्रद्धाभाजन थे। इसलिए उस समय के अरवि द के विषय मे, विशेषकर 'वन्दे मातरम' मे प्रकाशित उनके लेखो के विषय म, पढने पर मेरी पुरानी स्मतियाँ फिर से ताजी हो गइ।

यह वास्तव मे अद्भुत बात है कि जिस व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन के निर्माण काल के चौदह महत्त्वपूण वष अर्थात् सात वष की आयु से लेकर इक्कीस वष की आयु तक के वष, यूरोप की प्राचीन भाषाआ की शिक्षा ग्रहण करने मे बीते, और वे भी इग्लण्ड म, वही बाद मे उस प्रबल भारतीय राष्ट्रवाद का उन्नायक बन गया जिसकी पृष्ठभूमि भारतीय दशन और आध्यात्मिक ज्ञान पर अधिष्ठित थी। सक्रिय राजनीति के मच पर उनकी भूमिका बहुत ही अल्पकालिक (सन १९०५ से १९१० ई० तक) थी। सन् १९१० मे वह पाण्डिचेरी चले गए। पर उक्त पाच वष की अवधि मे भारत के राजनीतिक आकाश मे प्रचण्ड सूय के समान वह देदीप्यमान रहे। भारत के नवयुवका पर उनका प्रबल प्रभाव पडा। बग भग के विरुद्ध जो प्रचण्ड आन्दोलन हुआ उसकी दाशनिक प्रेरणा उन्ही से मिली। वस्तुत उसी प्रेरणा ने महात्मा गाधी के नेतत्व मे हुए प्रबल आन्दोलनो के लिए मच प्रस्तुत किया।

यह उल्लेखनीय है कि भारत के व्यापक जन-आन्दोलनो की पृष्ठभूमि सदा आध्यात्मिक रही है। श्री अरविन्द के प्रसग मे भी यह बात स्पष्ट थी और उनकी भावपूर्ण हृदयस्पर्शी प्रेरणाएँ प्रबल राष्ट्रवाद और भारत माता की कल्पना पर आधारित थी। भारतीयो के प्रति गाधी जी की प्रेरणा भी निस्सन्देह आध्यात्मिक थी। जनता पर उसका कितना अधिक प्रभाव पडा, इसे देख कर आश्चय होता है। महात्मा गाधी की विचारधारा का जन्म यद्यपि भारत की दाशनिक परम्परा से ही हुआ था, फिर भी उनका उद्बोधन समग्र ससार के प्रति था।

श्री अरविन्द अडतीस वष की अल्प वय मे ही राजनीतिक जीवन से विरत हो गए थे। मेरी पीढी के बहुत-से लोग, जो हमारे राजनीतिक आन्दोलन की धारा मे डूबे थे, समझ नही सके कि उन्होने ऐसा क्या किया। बाद मे जब गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन शुरू कर भारत को झकझोर दिया था, तब हमने सोचा था कि श्री अरविन्द एकान्तवास से बाहर निकलेगे और इस महान सघष मे भाग लगे। उनके ऐसा न करने से हम सबको निराशा हुई, हालाकि मुझे विश्वास है कि उनकी शुभकामनाएँ पूणत हमारे साथ थी। अपने एकान्तवास के समय अपनी स्वाभाविक प्रतिभा-प्रदीप्त शली मे उन्होने अनेक पुस्तकें लिखी जिनमे विशेष कर दाशनिक और धार्मिक विषयो की चर्चा है।

श्री अरविन्द के राजनीतिक विचारो के इस अध्ययन की प्रशसा करते हुए मैं यह उल्लेख करना चाहता हूँ कि जिस युवक ने इस पुस्तक की रचना की है, वह भारत के एक राजवश के उज्ज्वल रत्न है। वह जम्मू-कश्मीर राज्य के निर्वाचित राज्याध्यक्ष अथवा राज्यपाल है। यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि उन्होने अन्य भारतीय राजाओ की तरह शिकार पालो, उच्च समाज मे विचरण आदि व्यसनो मे व्यस्त न रह कर हमारे इतिहास की इस क्रान्ति बेला मे अपना पूरा ध्यान अध्ययन की ओर लगाया है। इससे भी बडी बात यह है कि श्री अरविन्द के विचारो का यह विश्लेषण प्रस्तुत करने जसे काम मे उन्होने अपने समय का सदुपयोग किया है।

श्रीनगर
मई, १९६२

जवाहरलाल नेहरू
भारत के प्रधानमत्री

## दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा तथा युवक सेवा मन्त्रालय के तत्त्वावधान मे पुस्तको के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही है। हिन्दी मे अभी तक ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र मे पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नही है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तके उच्च कोटि की हो, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महँगी न हो ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हें खरीद कर पढ सके। इन उद्देश्यो को सामने रखते हुए जो योजनाएँ बनाई गई हैं, उनमें से एक योजना प्रकाशको के सहयोग से पुस्तके प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तको की निश्चित सख्या मे प्रतिया खरीदकर उन्हें मदद पहुँचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत' इसी योजना के अन्तगत प्रकाशित की जा रही है। प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक ने श्री अरविन्द के राजनीतिक दशन का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। चौदह वष इग्लण्ड मे बिता कर, इक्कीस वष की अवस्था मे श्री अरविन्द १८९३ म स्वदेश लौटे थे। तब से १९१० तक, अठारह वर्षो के बीच श्री अरविन्द की विचारधारा और उनके आध्यात्मिक आधार का सम्यक विश्लेषण डॉ० कर्णसिह ने किया है। सन् १९०५ से १९१० तक सक्रिय राजनीति मे भाग लेने के बाद श्री अरविन्द ने एकाएक राजनीति को तिलाजलि देकर अध्यात्म का माग क्यो अपनाया— इस प्रश्न का उत्तर पुस्तक मे मिलेगा। इसके अनुवाद और कॉपीराइट इत्यादि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वय की है तथा इसमे शिक्षा तथा युवक सेवा मन्त्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का उपयोग किया गया है।

हमे विश्वास है कि प्रकाशको के सहयोग से प्रकाशित साहित्य

# विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ



खड ४

क्रान्तिकारी नेता श्री अरविन्द

उनकी राजनीतिक काय विधि



खड ५

राजनीतिक चिन्तक के रूप

मे श्री अरविन्द का मूल्याकन

खंड १

# भारत पर ब्रिटिश प्रभाव

# आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म

अध्याय १

# ब्रिटिश प्रभाव

सन् १४९८ म वास्को द गामा भारत आया। अपने तीन छोटे जहाज़ा के बेडे और १६० जहाजियो के साथ उसने कोपिकोड में लगर डाला। उसके आगमन से भारत के लम्बे और वैविध्यपूण इतिहास म नये युग का सूत्रपात हुआ। उस समय इस घटना की ओर किसी ने विशेष ध्यान नही दिया और कई दशका तक यूरोपीयो को अतिसाहसी व्यापारी मात्र समझा जाता रहा। तब तक मुगल साम्राज्य अपने पूण वभव पर नही पहुचा था। तब कोई स्वप्न मे भी नही सोच सकता था कि वास्का द गामा का आगमन इस बात का पूव सूचक है कि एक दिन नौशक्ति के बल पर यूरोप पूरे एशिया महाद्वीप पर आधिपत्य जमा लेगा। परन्तु वस्तुत हुआ ठीक यही। और दा शताब्दियो बाद, जब मुगल वश के अन्तिम शक्तिशाली शासक औरगजेब की मृत्यु हुई और मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा, तब यूरोपीय ही उनकी जगह लेने लगे। तब तक पुतगालिया के अतिरिक्त हालैंडवासी, फ्रासीसी और अंग्रेज भी आ गए थे और सभी भारत जसे महान और धनी देश से व्यापारिक सम्बन्ध बढाने का प्रयत्नशील थे।

अठारहवी शताब्दी मे भारत की राष्ट्रीय एकता जिन जटिल और कुटिल कारणा से छिन्न भिन्न हुई और जिस प्रकार देश मे अंग्रेजी प्रभुत्व पहले धीरे धीरे और फिर तेजी से जमता चला गया, उसका इस पुस्तक म सक्षिप्ततम उल्लेख भी सम्भव नही है। भाग्य ने अंग्रेजा का साथ दिया। इसके अलावा, वे सनिक और राजनीतिक दृष्टि से कुशल भी थे। फल यह हुआ कि वे एक एक करके पुतगालिया, हालैंडवासियो और फ्रासीसिया को भारत से खदेडने मे सफल होते गए। अन्त मे बडी चतुराई से देशी राजाआ को भी परस्पर लडाकर

वे इस सम्पूर्ण उप-महाद्वीप पर अपना आधिपत्य जमा गए। उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते वे भारत म विशाल साम्राज्य के निर्द्वन्द्व शासक बन गए। देश का अधिकाश 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के सीधे प्रशासन म आ गया और बाकी ३/८ भाग देशी रजवाडो के रूप म बन गया जो आगे प्रभुत्व स्वीकार कर चुके थे।

भारत पर ब्रिटिश प्रभाव गहरा बहुमुखी और स्थायी था। भारत को अपने लम्बे और उथल-पुथल भरे इतिहास के दौरान अनेक विदेशी आक्रमण सहन पडे हैं, हालाकि अधिकाश आक्रमण केवल सीमावर्ती थे और भारतीय राजनीति के वास्तविक केन्द्र बिन्दु उनसे प्राय अछूते रह थे। सच तो यह है कि एक दृष्टि से भारतीय इतिहास का दृश्य कुछ इस तरह है—आक्रमणो की अटूट शृखला और बीच के अन्तरालो मे भारत की सास्कृतिक जीवनधारा म आक्रमणकारियो का समन्वय। निस्सदेह यह समन्वय सदा शान्तिपूर्ण नही होता था और आक्रमणकारी प्राय देश के जीवन पर अपनी अमिट छाप भी छोडते थे, फिर भी वे अन्तत भारतीय जीवन के अभिन्न अग बन जाते थे और अपने देश से उनका सम्बन्ध पूर्णत टूट जाता था। यह बात उन जाहिद मुसलमान आक्रमणकारियो पर भी लागू होती है जिन्होने सदियो तक देश को विक्षुब्ध रखा था। भारत मे शीर्षस्थ इस्लामी शक्ति मुगल तो सम्पूर्णत भारतीय बन गए थे। उनका उद्गम अभारतीय था और उनकी सास्कृतिक कडी भी ईरान और पश्चिम एशिया के देशो से जुडी थी, फिर भी वे पूर्णत भारतीय बन गए थे और अपने को कभी विदेशी नही समझते थे।

अग्रेजो की स्थिति भिन्न थी। पहली बार भारत ऐसे लोगो के शासनाधीन हुआ जो न केवल पूर्णत विदेशी थे, बल्कि जिनके शासन-सूत्र का सचालन भारत से हजारो मील दूरस्थ स्थान से होता था। उन्हे भारत के सास्कृतिक जीवन से तादात्मय स्थापित करने की रचमात्र भी रुचि न थी। इस विशिष्ट परिस्थिति ने, जिसका हेतु अग्रेजो का शक्तिशाली जहाजी बेडा था, भारतीय विचारधारा और जीवन पर विशिष्ट प्रभाव डाला। भारत पर अग्रेजी प्रभाव

के अनेक पहलू है और सन् १९४७ मे अग्रेजो के यहाँ से चले जाने पर भी उनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव आज भी मौजूद है। उसी प्रभाव की एक प्रतिक्रिया थी उन्नीसवी शती के उत्तरार्ध मे आविर्भूत भारत का महान पुनर्जागरण जिसने बीसवी शती के आरम्भ मे प्रथम आधुनिक राष्ट्रीय जागृति का जन्म दिया। यह इतिहास की एक अद्भुत विडम्बना है कि इस ब्रिटिश प्रभाव ने ही स्वय भारत में आधुनिक राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास हुआ और उसके कारण अग्रेजो को अन्तत भारत से विदा होना पडा।

भारत जैसे विशाल महादेश मे राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश मे कुछ हद तक एकीकरण हो। केवल राजनीतिक एकीकरण ही नही, बल्कि प्रशासनिक, आर्थिक और बौद्धिक एकीकरण भी। बहुत हद तक ब्रिटिश प्रभाव के कारण ही ये उपादान जुट सके और भारत मे आधुनिक राष्ट्रीयता के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अग्रेजो के भारत के राजनीतिक मच पर आने के समय देश मे विक्षुब्धता का वातावरण था। महान मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था। विशाल क्षेत्रो पर प्रबल मराठा शासको का अधिकार होने के बावजूद देश बहुधा खडश विभक्त था और शासनिक अराजकता का बोल-बोला था।[1] अनेक राजनीतिक कुचक्रो और सैनिक सघर्षो के पश्चात 'ईस्ट इडिया कम्पनी' देश-भर मे अपना अधिकार स्थापित करने मे सफल हो गई। इस राजनीतिक एकीकरण के साथ-साथ उसने भारत मे एक ऐसी प्रणाली लागू की जो लगातार कुशल होती गई—यहा तक कि उन्नीसवी शती का अन्त होते-होते ससार की सर्वश्रेष्ठ प्रशासन प्रणालियो मे मे एक मानी जाने लगी। इसमे

[1]तुलना कीजिए 'अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध म भारत के अनेक भागो म सभ्यता इस तरह बिखर गई थी कि उसकी टक्कर के उदाहरण ससार के इतिहास म कम ही मिलेंगे। के० एम० पणिक्कर ए सर्वे ऑफ इडियन हिस्टरी दूसरा सस्करण, पृष्ठ २१२।

वे इस सम्पूर्ण उप महाद्वीप पर अपना आधिपत्य जमा सके। उन्नीसवी शताब्दी का आरम्भ होते होते वे भारत मे विशाल साम्राज्य के निद्वन्द्व शासक बन गए। देश का अधिकाश 'ईस्ट इडिया कम्पनी' के सीधे प्रशासन मे आ गया और कोई २/५ भाग देशी रजवाडो के रूप मे बच गया, जो आग्ल प्रभुत्व स्वीकार कर चुके थे।

भारत पर ब्रिटिश प्रभाव गहरा, बहुमुखी और स्थायी था। भारत को अपने लम्बे और उथल-पुथल भरे इतिहास के दौरान अनेक विदेशी आक्रमण सहने पडे है, हालाकि अधिकाश आक्रमण केवल सीमावर्ती थे और भारतीय राजनीति के वास्तविक केन्द्र बिन्दु उनसे प्राय अछूते रहे थे। सच तो यह है कि एक दृष्टि से भारतीय इतिहास का दृश्य कुछ इस तरह है—आक्रमणो की अटूट शृखला और बीच के अन्तरालो मे भारत की सास्कृतिक जीवनधारा मे आक्रमणकारियो का समन्वय। निस्सन्देह यह समन्वय सदा शान्तिपूर्ण नही होता था और आक्रमणकारी प्राय देश के जीवन पर अपनी अमिट छाप भी छोडते थे, फिर भी वे अन्तत भारतीय जीवन के अभिन्न अग बन जाते थे और अपने देश से उनका सम्बन्ध पूर्णत टूट जाता था। यह बात उन जाहिद मुसलमान आक्रमणकारियो पर भी लागू होती है जिन्होने सदियो तक देश को विक्षुब्ध रखा था। भारत मे शीर्षस्थ इस्लामी शक्ति मुगल तो सम्पूर्णत भारतीय बन गए थे। उनका उद्गम अभारतीय था और उनकी सास्कृतिक कडी भी ईरान और पश्चिम एशिया के देशो से जुडी थी, फिर भी वे पूर्णत भारतीय बन गए थे और अपने को कभी विदेशी नही समझते थे।

अग्रेजो की स्थिति भिन्न थी। पहली बार भारत एसे लोगो के शासनाधीन हुआ जो न केवल पूर्णत विदेशी थे, बल्कि जिनके शासन-सूत्र का सचालन भारत से हजारो मील दूरस्थ स्थान से होता था। उन्हे भारत के सास्कृतिक जीवन से तादात्मय स्थापित करने की रत्तीमात्र भी रुचि न थी। इस विशिष्ट परिस्थिति ने, जिसका हेतु अग्रेजो का शक्तिशाली जहाजी बेडा था भारतीय विचारधारा और जीवन पर विशिष्ट प्रभाव डाला। भारत पर अग्रेजी प्रभाव

के अनेक पहलू हैं और सन् १९४७ मे अग्रेजो के यहा से चले जाने पर भी उनका महत्त्वपूण प्रभाव आज भी मौजूद है। उसी प्रभाव की एक प्रतिक्रिया थी उन्नीसवी शती के उत्तराध मे आविर्भूत भारत का महान पुनर्जागरण जिसने बीसवी शती के आरम्भ मे प्रथम आधुनिक राष्ट्रीय जागृति को जन्म दिया। यह इतिहास की एक अद्भुत विडम्बना है कि इस ब्रिटिश प्रभाव ने ही स्वय भारत में आधुनिक राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास हुआ और उसके कारण अग्रेजो को अन्तत भारत से विदा होना पडा।

भारत जैसे विशाल महादेश मे राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश मे कुछ हद तक एकीकरण हो। केवल राजनीतिक एकीकरण ही नही, बल्कि प्रशासनिक, आर्थिक और बौद्धिक एकीकरण भी। बहुत हद तक ब्रिटिश प्रभाव के कारण ही ये उपादान जुट सके और भारत मे आधुनिक राष्ट्रीयता के उदय का माग प्रशस्त हुआ।

अग्रेजो के भारत के राजनीतिक मच पर आने के समय देश म विक्षुब्धता का वातावरण था। महान मुगल साम्राज्य छिन-भिन हो चुका था। विशाल क्षेत्रो पर प्रबल मराठा शासका का अधिकार होने के बावजूद देश बहुधा खडश विभक्त था और शासनिक अराजकता का बोल-बोला था।[1] अनेक राजनीतिक कुचक्रा और सैनिक सघर्षो के पश्चात 'ईस्ट इडिया कम्पनी' देश-भर मे अपना अधिकार स्थापित करने मे सफल हो गई। इस राजनीतिक एकीकरण के साथ-साथ उसने भारत मे एक ऐसी प्रणाली लागू की जो लगातार कुशल हाती गई—यहा तक कि उन्नीसवी शती का अन्त होते-होते ससार की सवश्रेष्ठ प्रशासन-प्रणालियो मे से एक मानी जान लगी। इसमे

[1]तुलना कीजिए 'अठारहवी सदी के उत्तराद्ध म भारत के अनेक भागा म सभ्यता इस तरह बिखर गई थी कि उसकी टक्कर के उदाहरण ससार के इतिहास म कम ही मिलेंगे। के० एम० पणिक्कर 'ए सर्वे आफ इडियन हिस्टरी' दूसरा सस्करण पष्ठ २१२।

सन्देह नही कि शासन के अनेक क्षेत्रों में, विशेष कर राजस्व प्रशासन में, ब्रिटिश शासकों ने मुगलों के समय प्रचलित प्रणाली को ही थोड़ा-बहुत हेर-फेर के साथ स्वीकार किया था। उन्होंने सम्पूर्ण भारत के लिए एक ऐसी सर्वांगीण कार्यपालिका और न्यायपालिका का निर्माण किया जो एकीकरण का प्रबल माध्यम बनी।[1] कानून के क्षेत्र में विशेष रूप से ब्रिटिश शासकों ने वस्तुतः क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। जैसा कि पणिक्कर ने अपने 'ए सर्वे आफ इंडियन हिस्टरी' में लिखा है—'जिस देश में हिन्दू धर्म शास्त्र के अनुसार शूद्र के साक्ष्य पर ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जा सकता था, दण्ड की मात्रा भी जाति के आधार पर न्यूनाधिक होती थी, और जहाँ मुस्लिम विधि के अनुसार मुसलमान के विरुद्ध काफिर की गवाही नहीं मानी जा सकती थी, उस देश में कानून के समक्ष सबको समान मानने का सिद्धान्त प्रचलित कर देना कानून के क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्ति थी।'[2]

इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन पुलिस सर्विस, इंडियन आडिट एंड एकाउंट्स सर्विस आदि अखिल भारतीय सेवाओं और रेवेन्यू और जुडीशियल (राजस्व और न्यायिक) सर्विस जैसी प्रान्तीय सेवाओं की स्थापना ने इस विशाल देश के विभिन्न अंगों को इस तरह एकता के सूत्र में बांध दिया, जैसे पहले कभी नहीं हुआ था। इसी के फलस्वरूप वह दृढ़ ढांचा बन सका जिसमें प्रशासनिक दृष्टि से भारत का वास्तविक एकीकरण सम्भव हुआ। यह भी उल्लेखनीय है कि अंग्रेज शासकों द्वारा निर्मित भारतीय सेना भी एकीकरण की एक शक्ति बनी यद्यपि इस सेना का गठन उन्होंने मुख्यतः अपने ही हितों की रक्षा के लिए किया था। देश के विभिन्न भागों से लोगों को भर्ती करके बनाई गई भारतीय सेना, जिसका संगठन

---

[1] तुलना कीजिए अमौरी द रीनकोर्ट—'जो देश अपने दीर्घ-कालिक इतिहास में बारम्बार खण्ड-खण्ड और विभक्त होता रहा था उसे सर्वप्रथम एकता के सूत्र में बाँधने के लिए अगणित अंग्रेज अधिकारियों और विशेषज्ञों ने मिलकर प्रभावशाली प्रशासनिक ढाँचा बनाया और उसके प्रत्येक अंग प्रत्यंग के कृत्य सुनिश्चित करने वाली संहिताएँ निर्मित कीं'—द सोल आफ इंडिया, पृष्ठ २०६।

[2] ए सर्वे आफ इंडियन हिस्टरी, दूसरा संस्करण, पृष्ठ २०४–५।

गर राजनीतिक बुनियाद पर हुआ था, तीन महाद्वीपो म ख्याति अर्जित करने मे सफल हुई और स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय रक्षा सेना का आधार बनी।

अब हम ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभाव पर विचार कर। प्रशासन की तुलना मे इस दिशा मे उनका काय प्रशसनीय नही है और स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन की पहली शती मे भारत का इतना अधिक आर्थिक शोषण हुआ कि वह तेजी से गरीबी की ओर बढने लगा। हम भारत को आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ देश समझने के आदी हो गए ह, पर यह स्थिति सदा नही थी। वास्तव म, सदियो तक भारत अपनी अपरिमित सपन्नता के लिए ससार भर मे प्रसिद्ध रहा है और इसी कारण लुटेरे आक्रमणकारियो की लोलुप दृष्टिया का लक्ष्य रहा है। मुगल शासन के समय निर्यात व्यापार बहुत उन्नति पर था और भारत मे उत्पन्न रेशम, कपास, नमक, शक्कर, अफीम आदि अनेक वस्तुओ की विदेशी बाजारो मे बडी माग थी। यहा की हस्तशिल्प की वस्तुएँ अपन अद्भुत शिल्प के लिए विख्यात थी और आतरिक व्यापार और वाणिज्य भी बहुत समृद्ध था। वास्तव मे, यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति (कैसी विडम्बना है कि भारत के आर्थिक शोपण के फलस्वरूप इग्लैण्ड म पहुँचे अपार धन से इस औद्योगिक क्रान्ति को अपूव प्रेरणा मिली थी!) के तत्काल पहले उत्पादन, व्यापार और वाणिज्य की दृष्टि से भारत एक समुन्नत देश था। ब्रिटिश शासन के सौ वष पूर होते होते स्थिति बिलकुल बदल गई। आर्थिक शोपण की अत्यधिक निमम पद्धति के फलस्वरूप भारत महादेश क्रमश निधन होता चला गया। आर्थिक शोपण के ऐसे निर्मम उदाहरण इतिहास मे अ यत्र नही मिलेगे।

यहा आर्थिक स्थिति की विस्तत चर्चा आवश्यक नही है।[1] कुछ

---

[1]अनेक भारतीय और विदेशी लेखको न भारत पर अग्रेजी शासन के आर्थिक प्रभाव का विस्तत विश्लेषण किया है। उदाहरण क लिए ए०के०देसाई रचित सोशल बैकग्राउड आफ इडियन नेशनलिज्म देखें। विशुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखी गई इस किताब म भारत पर ब्रिटिश शासन के आर्थिक दुष्प्रभाव से सम्बधित बहुमूल्य आँकडे उपलब्ध है।

मुख्य-मुख्य बातें बताना ही पर्याप्त होगा। पहले हम कृषि को लें, जो आज की तरह उस समय भी भारतीय जनता का मुख्य आर्थिक व्यवसाय थी। लिखित इतिहास के आरम्भ काल से ही भारत के ग्राम्य जीवन का प्रमुख लक्षण रहा है, ग्रामों की आत्मनिर्भरता। भारतीय गांव अपने आप में पूर्ण और आत्मनिर्भर इकाई था और ग्रामवासियों की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ था। ग्राम-जीवन की दो प्रमुख विशेषताएँ थी। एक थी अविभक्त कुटुम्ब व्यवस्था और दूसरी व्यवसाय-मूलक (श्रम विभाजन पर आश्रित) जाति-प्रथा। दोनों का कठोरता से पालन होता था। यद्यपि खेती का तरीका बिल्कुल साधारण और पुराना था, किन्तु पूरी पद्धति ऐसी थी कि निचले स्तर पर आर्थिक सन्तुलन सुनिश्चित था। आत्मनिर्भर गांव सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से परिवर्तन और उथल-पुथल के विरुद्ध एक अभेद्य किला था और प्रचण्डतम राजनीतिक परिवर्तन होने पर भी सदियों तक उसका ढांचा अक्षुण्ण बना रहा। ब्रिटिश प्रभाव ही सदियों पुरानी गांव की आत्मनिर्भरता को तहस-नहस करने में सर्वप्रथम सफल हुआ। अंग्रेज चाहते थे कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था एक ओर इंग्लैण्ड के उद्योगों के लिए कच्चा माल प्रदान करने का साधन और दूसरी ओर बड़ी मात्रा में तैयार किए इंग्लैण्ड के माल का बाजार बन जाए। यह स्थिति आत्मनिर्भरता के सर्वथा विपरीत थी।

अपने आधिपत्य के तत्काल बाद ही अंग्रेजों ने भू धृति प्रणाली में आमूल परिवर्तन किए। पहले गाँव की भूमि पर गांव के लोगों का परम्परागत अधिकार होता था। अब इसके स्थान पर दो व्यवस्थाएँ लागू की गई—जमींदारी प्रथा, जिसके अनुसार बहुत से भूखंड निर्धारित लगान-दरों पर भूस्वामियों (जमींदारों) को दे दिए गए। (१७९३ का कॉर्नवालिस का प्रसिद्ध 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' यानी परमानेंट सेटलमेंट) रयतवारी प्रथा जिसके अनुसार शासन प्रत्येक किसान से अलग-अलग लेन-देन रखता था। दोनों ही प्रथाओं से गाँव का सामुदायिक जीवन छिन्न हो गया, ग्राम-पंचायतों की जगह सरकारी अदालतें जन्मीं, वस्तु विनिमय पर आधारित पुरानी व्यवस्था के

बदले द्रव्यमूलक अर्थ-व्यवस्था आ गई और भारतीय कृषि-व्यवस्था की सम्पूर्ण रूपरेखा बदलने लगी। कृषि, जो पहले आत्मनिर्भरता की प्रणाली थी, अब व्यापार और वैशिष्ट्य की ओर बढ़ने लगी। किसान भी विश्व की मण्डी के अनिश्चित उतार-चढ़ाव के शिकार बना लगे, जिन पर उनका कोई वश नही था। परजीवी दलालो का एक वर्ग पैदा हुआ, जिसने निर्दयता से किसानो को चूसना आरम्भ किया और साहूकार तो शोषण का प्रतीक ही बन गया। इस पूरी प्रक्रिया से किसान-वर्ग बुरी तरह पिस गया और वह निरंतर निर्धन होता गया। छोटे-छोटे जोत क्षेत्र, विकट कर्ज, कृषि-उत्पादन मे ह्रास, अकाल और महामारी—ये सब भारत के ग्रामीण जीवन के सामान्य लक्षण बन गए।

औद्योगिक क्षेत्र की स्थिति भी इतनी ही भयंकर थी। देशी उद्योग धधो का समूल नाश करने का ब्रिटिश सरकार ने सगठित प्रयास किया। आतक और नितान्त अनुचित सीमा शुल्क की सहायता से वह इस उद्देश्य मे पूरी तरह सफल हुई। ब्रिटिश कारखाना मे मशीन द्वारा बनी सस्ती चीजो से देश को पाट दिया गया। भारतीय उद्योग और ग्रामीण हस्त शिल्प अस्त-व्यस्त होकर तिरोहित हो गया। भारत के कच्चे माल को इग्लण्ड भेजने और वहा के माल का भारत मे वितरण करने के लिए सडको और रेलो की व्यापक परिवहन-सुविधा की व्यवस्था की गई।

इस तरह स्पष्ट है कि भारत मे अग्रेजी शासन का आर्थिक प्रभाव केवल ध्वसात्मक था। पर इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि उसने अन्तत भारत की एकता को सुदृढ बनाया। जनसाधारण को अत्यधिक यातनाएँ जरूर भोगनी पडी, पर यह मानना ही होगा कि भारत को आधुनिक सगठित राष्ट्र बनाने के लिए भारतीय ग्राम समुदाय के एकात्मक ढाचे को समाप्त करना आवश्यक था, क्योकि अब वह समयानुकूल नही रह गया था। ग्रामो की आत्मनिर्भरता को समाप्त करके तथा भारत के जीवन मे पहली बार राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करके, अग्रेजी शासन ने भारत मे सच्ची राष्ट्रीय चेतना की आधार शिला रखने म महत्त्वपूर्ण योग दिया। दुर्गम स्थानो

तक पहुँचना सम्भव बना तथा रेलो का एक जाल-सा बिछा कर देश के विभिन्न भागो को जोडने का भी यही प्रभाव पडा। इस तरह बुराई से ही भलाई का जन्म हुआ और अंग्रेजो द्वारा भारत के आर्थिक शोषण और विनाश से ही अन्तत आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म हुआ।

इस तरह, *ब्रिटिश शासन का राजनीतिक, प्रशासनिक* और आर्थिक प्रभाव पहले भारत म एकता लाने मे और बाद मे आधुनिक राष्ट्रीय चेतना जागृत करन मे सहायक हुआ। ऐसा ही महत्त्वपूण और शायद अधिक व्यापक था बौद्धिक प्रभाव। इसके विकास का प्रमुख माध्यम बना भारतीय शिक्षा पद्धति मे अंग्रेजी का प्रवेश।

ठीक ही कहा गया है कि 'सन् १८३५ के उस निणय का, जिसम अंग्रेजी माध्यम वाली तथा अंग्रेजी स्कूलो के पाठ्यक्रमवाली शिक्षा के प्रचार के लिए सरकारी निधि के प्रयोग का निश्चय हुआ, आधुनिक भारतीय विचारधारा के विकास पर जितना स्थायी प्रभाव पडा, उतना स्थायी प्रभाव अंग्रेजी शासन की किसी अन्य नीति का नही पड सका।'[1] भारतीय राजनीति के भावी विकास पर उसका बडा असर पडा। वास्तव म उसका प्रभाव भारतीय जीवन के सभी पहलुओ पर पडा, क्योकि उसमे भारत के बुद्धिजीवी वग के मानस मे पाश्चात्य विचारो और विचारधाराओ का त्वरित प्रवेश हुआ। गम्भीर और उवर भारतीय मस्तिष्क पर उसने तीव्र स्पदन पदा किया और सृजनात्मक विचारधारा और गतिविधि म उफान-सा आ गया।

गरिमामय वभव के युगो म भी भारत नये विचारो और प्रेरणाओ को स्वीकार करने और विदेशी संस्कृतियो की उत्कृष्टताओ को आत्मसात करने को सदा तत्पर रहता था। ऋग्वेद की प्रसिद्ध सूक्ति है

'आ नो भद्रा क्रतवा यन्तु विश्वत।'[2] (श्रेष्ठ विचार सब ओर से हमारे पास आएँ) पर इस तरह की सृजनात्मक कार्यविधिया

---

[1]एम०एन०हे मार्सेज आफ इंडियन ट्रेडिशन कोलम्बिया पष्ठ ५८७-८८।
[2]ऋग्वेद १-८६-१।

के बाद प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ भी पनपी हैं, यह सार्वभौमता-मूलक दृष्टिकोण संकुचित भी हुआ है और पृथक्तावादी तथा व्यष्टि-वादी विचारों की प्रबलता के युग भी आए हैं। इस तरह, जहाँ एक ओर ऐसी कालावधियाँ आई हैं जिनमें भारत के धर्म-प्रचारक साधु और संत, भिक्षु और भिक्षुणियाँ, शासक और व्यापारी शांति का संदेश लेकर समुद्र पार करके भारत की महान सभ्यता और संस्कृति का प्रचार एशिया के सभी देशों में करते थे, वहाँ दूसरी ओर हम इतनी संकुचित दृष्टि भी देखते हैं कि एक बार विदेश-यात्रा कर लेने मात्र से यात्री अपवित्र हो जाता है और वहाँ से वापिस आने पर प्रायश्चित करने पर ही समाज में उसका पुनः प्रवेश सम्भव है। अंग्रेजों के प्रभाव-काल के आरम्भ में भारत इस दूसरी अवस्था में था। उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों से युक्त हिन्दू धर्म की समग्र गरिमा संकुचित जाति-प्रथा, सामाजिक बंधनों, निरर्थक अंधविश्वासों और भ्रान्त धारणाओं के फलस्वरूप क्षीण हो गई थी। आवश्यकता थी ताजी हवा के एक झोंके की, जो जालों को साफ करके दिव्य और सुंदर सिद्धान्तों को पुनः उजागर कर दे। इस आवश्यकता की पूर्ति अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश से सम्भव हुई। इसका प्रयोजन अंग्रेज शासकों और भारतीय प्रजाजन के बीच मध्यस्थल का काम करने वाले 'बाबुओं' के नये वर्ग को पैदा करना था, लेकिन फिर भी इसके फलस्वरूप भारत के अग्रगण्य मनस्वी वर्ग में नये विचारों और नई धारणाओं का प्रसार हुआ, नई बौद्धिक चेतना आई जिससे भारत में पुनर्जागरण सम्भव हुआ।[1]

यहाँ इस बात का विशेष उल्लेख आवश्यक है कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीयों में अपनी पुरानी सांस्कृतिक परम्परा को छोड़ने

---

[1]टॉमस बबिंगटन मकॉले के प्रयत्न से भारत में अंग्रेजी भाषा और न्याय पद्धति का प्रवेश हुआ। उन्होंने भारत के प्राचीन साहित्य की अवहेलना की जो उनके निपट अज्ञान से जन्मी थी फिर भी तथ्य यही है कि वह आधुनिक भारत के निर्माताओं में एक थे। उनका प्रसिद्ध मिनट ऑन एजूकेशन (१८३५) और सर विलियम जोन्स के नेतृत्व में प्राच्यविदों के साथ हुए वाद विवाद आधुनिक भारतीय इतिहास का बड़ा रोचक अंग है।

की प्रवृत्ति जागी। कुछ लोगो की प्रतिक्रिया विनाशात्मक भी हुई, परन्तु आमतौर पर इस शिक्षा के कारण भारतीय अपने प्राचीन गौरव और उपलब्धियो का श्रेष्ठतर मूल्याकन करने मे समर्थ हुए। सर विलियम जास (जिन्होने कालब्रुक के साथ मिलकर १७८३ म 'बगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की थी और कालिदास रचित नाटक शाकुन्तलम' का अग्रेजी अनुवाद करके पाश्चात्यो को भारतीय सस्कृति से परिचित कराया था) तथा अन्य प्राच्यविदो ने भारत के सास्कृतिक दाय का उद्घाटन करने की दिशा मे अग्रगण्य काय किए है, जिनके प्रति भारतीय सदा कृतज्ञ रहेगे। एक इतिहासकार ने ठीक ही कहा है कि 'शिक्षा की नीति के मामले मे प्राच्यविद् असफल रहे, फिर भी उन्होने भारत के सास्कृतिक दाय को अत्यन्त महत्त्वपूण बताया, और अग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयो के मन म अपने अतीत के प्रति एक नया अभिमान पदा हुआ। यह अभिमान उन्नीसवी सदी के हिन्दू धम के नवजागरण और राष्ट्रीयता के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण था।'[1]

अग्रेज पुरातत्त्वज्ञो और भाषा-शास्त्रियो ने भारत के अतीत को प्रकाश म लाने के महान काय मे बडी सहायता दी। जेम्स प्रिंसेप ने १८३४ म अशोक के लेखो की कुजी ढूँढ निकाली। अलेक्जैडर कनिंघम और फर्गुसन ने भारतीय पुरातत्त्व और वास्तुकला का गहन अध्ययन किया। भारत सरकार के पुरालेख शास्त्री डा० हुल्टज्श ने प्राचीन भारतीय लिपियो को पढने मे बहुमूल्य योग दिया। बाद मे मानियर विलियम्स तथा प्रसिद्ध जमन विद्वान मैक्समूलर ने भारत के विस्तृत और गौरवशाली इतिहास तथा मानव काय के अनेक क्षेत्रो म भारत की महान उपलब्धियो को प्रकाश म लाने म योग दिया।[2]

---

[1]'सोर्सेज आफ इडियन ट्रडीशन', पष्ठ ५६०।

[2]'कॉमनसेंस एबाउट इडिया' म पणिक्कर के कथन स तुलना कीजिए। पष्ठ २४–२५। प्रसिद्ध भारत विदो का उल्लेख करने के बाद उन्होने लिखा है कि हिन्दुस्तान और इन्डोनेशिया म कायरत फ्रासीसी और डच विद्वानो तथा पल्लियट और सिल्वियन लेवी जस महान ज्ञानविदो न प्रमाणित कर दिया कि सुदूर-पूव म भारतीय सभ्यता का किस सीमा तक प्रवेश हुआ था। पणिक्कर का

यह तथ्य और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान दोनो ने मिलकर भारत मे बौद्धिक चेतना जगाई और प्रबुद्ध भारतीयो के मन मे अपनी राष्ट्रीय परम्परा का अभिमान पुन जागा। इस ग्रथ मे हम बार-बार देखेंगे कि यह भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का एक महत्त्वपूण तत्त्व था जो उन्नीसवी सदी के अन्त मे आरम्भ हुआ और बीसवी सदी के मध्य से पहले स्वाधीनता म प्रतिफलित हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप जात पाँत और प्रान्तीयता की सीमाओ को न माननेवाले एक नये शिक्षित शिष्ट वग का ज म हुआ। लोकतन्त्र और स्वात त्र्य के पाश्चात्य विचारो से प्रेरित अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त यह नया वग भारत की राजनीति मे एकीकरण करनेवाला एक महत्त्वपूण तत्त्व बना। देश के कोने-कोने म व्याप्त राष्ट्रीय आ दोलन का नेतृत्व इसी वग के लोगो ने किया, यह भी एक विलक्षण तथ्य है। इसी स दभ मे एक पाश्चात्य समीक्षक ने कहा है

' जिस अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत मे अंग्रेजो को अनेक सहयोगी मिले, वही अन्तत उनके साम्राज्य की समाप्ति का कारण भी बनी। पहली बात यह है कि मध्यवग के लोग, चाहे दक्षिण के हो या उत्तर के, बगाल के हो या महाराष्ट्र के, इस एक भाषा के माध्यम से परस्पर सम्पक-सूत्र से जुड गए। उतनी ही महत्त्वपूण बात यह भी थी कि अंग्रेजी के गौरव ग्रथो को पढन से न्याय, स्वातन्त्र्य और देश प्रेम के पाश्चात्य आदश भी भारतीय जन मानस मे जागृत हुए।"[1]

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जसा कि पणिक्कर न कहा है 'अंग्रेजी हि दू सुधारवाद की भाषा बनी। उसके बिना निस्स देह

---

निष्कष है बीसवी सदी के पहले दशक तक हि दुओ की उपलब्धि उनके लिए गौरव का विषय बन चुकी थी और ऐसा मुख्यत यूरोपीय विद्वानो के काय का प्रतिफल था। राष्ट्रीयता का एक नया स्वरूप निखरा और हि दू यह समझ पाए कि हमने ससार के दशन म योग तो दिया ही है साथ ही एक ऐसा समय भी रहा है जब हम अपनी सभ्यता को सुदूर देशो म ले गए और हमारे साम्राज्य वहाँ स्थापित हुए।'

[1] 'सोर्सेज ऑफ इडियन ट्रडीशन पृष्ठ ६६१।

हिन्दू धर्म का सुधार और हिन्दू समाज का पुनर्गठन आरम्भ हुआ होता पर यह आन्दोलन प्रान्तिक होता तथा भारत की एकता और भी छिन्न हो जाती।[1] यह दिलचस्प है कि स्वामी विवेकानन्द श्री अरविन्द गांधीजी और राधाकृष्णन जैसे हिन्दू सुधार-आन्दोलन के महान कर्णधारों ने अधिकांशतः अंग्रेजी में (कभी-कभी तो केवल अंग्रेजी में) ही अपने विचार व्यक्त किए।

इस तरह भारत में ब्रिटिश प्रभाव के कारण भारतीय एकता की अभिवृद्धि हुई और आगे चल कर आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी देश की स्वाधीनता का खोना एक भयानक विपत्ति है। विजेताओं के द्वारा विजितों का क्रूर आर्थिक शोषण भी भयावह है। किन्तु ब्रिटिश आधिपत्य के बाद भारत का जो राजनीतिक, प्रशासनिक आर्थिक और बौद्धिक एकीकरण हुआ वह भारत की राष्ट्रीयता के आविर्भाव के लिए नितान्त आवश्यक था। इस प्रभाव की अनेक भारतीय प्रतिक्रियाओं की चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

[1] कामनसेंस एबाउट इंडिया के० एम० पणिक्कर पृष्ठ २४।

अध्याय २

# भारतीय पुनर्जागरण

## सामाजिक और धार्मिक सुधार के आन्दोलन

बहुमुखी प्रभाव की प्रतिक्रिया अनिवार्यत प्रबल और बहुविध होती है, प्रभाव ग्रहण करनेवाली सभ्यता मानव इतिहास मे सबसे पुरानी और सर्वांगपूर्ण सभ्यता हो तो यह और भी सच है। भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य अन्ततोगत्वा एक अपूर्व जागरण और पुनरुत्थान का हेतु बना। इन थोडे से पृष्ठो मे इस ऐतिहासिक घटना-क्रम का समुचित वर्णन करने का उपक्रम भी सम्भव नही है। अत, इस अध्याय मे भारतीय नवजीवन के उस स्वरूप के व्यापक लक्षणो की रूपरेखा देने मात्र का प्रयास किया गया है जिसके कारण आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का विकास हुआ और जिसमे श्री अरविन्द ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय नवजीवन की बात मुख्यत हिन्दू जाति के नवजीवन के सन्दर्भ मे ही की जा सकती है। इसका अर्थ अन्य समुदायो के, विशेषकर मुसलमानो के जो इस विशाल महादेश मे निवास करते हैं, महत्त्व को कम आकना नही है। कहने का आशय केवल इतना ही है कि भारत मे आज की तरह तब भी, अधिकाश जनता हिन्दू थी। यह भी सच है कि उसके सुदीर्घ इतिहास मे, विशेषकर आर्यो के आगमन के बाद के युग मे, स्पष्टत हिन्दू धर्म ने ही भारत की राष्ट्रीय सस्कृति का स्वरूप निर्धारण किया है, वही इस देश की विविध उपलब्धियो के मूल मे सजनात्मक शक्ति का काम करता रहा है, उसी ने वह नैतिक मानदड, वह सास्कृतिक पृष्ठभूमि और वह गरिमामय रगमच तयार किया है, जिस पर भारत के इतिहास का नाटक अभिनीत

हुआ है। यह भी सच है कि बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक सम्प्रदायों ने अपनी सत्ता हिंदू धर्म से पृथक् स्थापित करने का यत्न किया है पर वे अपने जन्मदाता से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद करने में समर्थ नहीं हुए हैं। यह भी सच है कि कट्टर इस्लाम ने उत्तर भारत के अधिकांश में अपनी पताका फहराई और सदियों तक वहां के राजनीतिक जीवन को अभिभूत रखा, किंतु फिर भी भारत का विशाल जनसमुदाय अपने पारम्परिक धर्म को ही अपनाए रहा। यही नहीं, हिंदू धर्म के साथ समागम के कारण इस्लाम धर्म के स्वरूप में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन आ ही गया।

इसके अतिरिक्त, हिंदू धर्म भारतवासियों के लिए, सदियों से, केवल एक सम्प्रदाय मात्र नहीं बल्कि जीवन की एक सर्वांगपूर्ण पद्धति रहा है। देश के वैयक्तिक और सांस्कृतिक जीवन की सभी धाराओं का प्रेरणा-स्रोत भी वही रहा है। भारत के सर्वांगीण जीवन में राजनीतिक क्रिया कलापों का स्थान तो सदा एकांगी और इसलिए अत्यधिक सीमित रहा है। इसलिए हिंदू धर्म रूपी विशाल उदधि का मथन किए बिना राजनीतिक जागरण का अमृत पान की आशा केवल मृग-तृष्णा सिद्ध होगी। श्री अरविन्द ने एक जगह लिखा है 'भारतीय जीवन के सभी महान आंदोलनों का उदय नई आध्यात्मिक विचारधारा और प्राय नये धार्मिक कर्मकाण्ड से हुआ है।'[1] उन्नीसवीं सदी में हुए भारत के नवजागरण के बारे में भी यह सूक्ति निःसन्देह सच है। वस्तुतः हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलनों के साथ ही नवजागरण का आरम्भ हुआ जो बाद में राजनीतिक मुक्ति की दिशा में दुर्दम वेग से अग्रसर हुआ।

---

[1] रेनायसां इन इंडिया, पृ० ४४। एक आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकार के इस कथन से तुलना कीजिए : जागरण उसी धरातल पर हो सकता है जिस पर चेतना का अस्तित्व होता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि गहन परिवर्तन का प्रवर्तन हेतु वह परिपुष्ट दार्शनिक प्रवृत्ति तथा धार्मिक भावना ही हो सकती है जो भारत की भावात्मकता का ऐसा अभिन्न अंग है कि यदि उसका लोप हो जाए तो इस महान् देश की आत्मा ही निर्जीव हो जाए। —डा० के० दीनकर द सान ऑफ इंडिया, पृ० २२७।

भारत के दो बड़े समुदायों—हिन्दुओं और मुसलमानों—के पारस्परिक सम्बन्ध को ब्रिटिश आधिपत्य ने एक ही झटके में बदल दिया। उनके आगमन से पहले मुसलमान कई सदियों तक भारत के बड़े भाग में शासक रह चुके थे, यद्यपि मुगल साम्राज्य के अन्तिम बरसों में मराठे और राजपूत अपनी पारम्परिक स्वतन्त्रता का पुनः दावा करने लग थे। अंग्रेजों के आगमन के साथ विदेशी शासन में हिन्दू और मुसलमान दोनों को बराबरी पर ला दिया गया। दोनों अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे और दोनों एक ही धरातल पर आ गए। स्पष्टतः यह स्थिति हिन्दुओं के अनुकूल थी। वे व्यापार और वाणिज्य में अधिक कुशल और योग्य होने के कारण नवागन्तुक व्यापारियों के साथ मिलकर लाभ कमाने लगे। अंग्रेजों के आगमन से पहले शासन मुसलमानों के हाथ में था। अतः उनको नये शासक स्वभावतः सन्देह की दृष्टि से देखते थे। लंदन को भेजे गए एक सरकारी सन्देश में लॉर्ड एलेनबरो ने लिखा था कि मुसलमान मूलतः हमारे विरोधी हैं और इसलिए ब्रिटिश नीति हिन्दुओं से मेल मिलाप करने की होनी चाहिए। यह उक्ति अंग्रेजों की प्रारम्भिक मनोवृत्ति की द्योतक है। इसके अतिरिक्त नई परिस्थितियों के अनुरूप ढलने की अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण हिन्दू जल्दी ही अग्रगामी हो गए, जब कि मुसलमान बहुत समय तक दुःख, उत्साहीनता और निराशा की स्थिति में बने रहे।

सन १८५७ में वह महान् विप्लव हुआ जो 'इंडियन म्यूटिनी (भारतीय सैन्य विद्रोह), 'प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम' आदि नामों से विदित रहा है।[1] कुछ समय के लिए ब्रिटिश शक्ति हिल गई थी और ऐसा लगता था कि अंग्रेज भारत से कूच करने को बाध्य हो जाएँगे। इसी प्रकार की भावनाओं से प्रेरित अनेक विद्रोह उठ खड़े हुए। उनमें सयोग से हिन्दुओं और मुसलमानों ने विदेशी साम्राज्यवाद के

---

[1] पहला नाम अंग्रेजों ने प्रचलित किया था, पर अधिकांश भारतीय इतिहासकार दूसरे नाम को ही पसन्द करते हैं। इस क्रान्ति को सन् १९५७ में सौ वर्ष पूरे हुए थे। यह ऐसा अवसर था जब आधुनिक भारतीय इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण घटना पर विशेष अनुसन्धान करना और उसकी नयी व्याख्या करना उचित होता।

विरुद्ध परस्पर मिलकर भाग लिया और परिस्थितियों ने कुछ महत्त्वपूर्ण नेता भी उत्पन्न किए। फिर भी कोई केन्द्रीय समन्वयकारी शक्ति नहीं थी। फल यह हुआ कि अंग्रेजों ने आरम्भ में एक धक्का जरूर खाया पर बाद में अधिक अच्छे केन्द्रीय मार्गदर्शन और नीति-कौशल के कारण वे इस विद्रोह को दबाने में सफल हो गए। क्रान्ति असफल अवश्य रही फिर भी भारत के भावी इतिहास के लिए उसका बहुत महत्त्व था। पणिक्कर ने लिखा है पहली बात यह कि यह पुरानी व्यवस्था के कर्णधारों का राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा की पुनःप्राप्ति के लिए किया गया अन्तिम और पराजित जनता द्वारा राष्ट्रीय स्वाभिमान की पुनःप्राप्ति का वीरतापूर्ण प्रयास था। दूसरी बात यह कि आधुनिक भारतीय इतिहास की रंगभूमि में यह एक बहुत बड़ी सीमा रेखा है, क्योंकि इसके बाद सरकार ने जो नीतियां, पद्धतियाँ और आदर्श परम्पराएँ अपनाईं वे कम्पनी की भूतपूर्व सरकार की नीतियां, पद्धतियां और आदर्श परम्पराओं से आमूल भिन्न थीं। इंग्लैण्ड की रानी ने सन १८५८ में भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया और इतिहास के रंगमंच से ईस्ट इंडिया कम्पनी का तिरोधान हो गया।'

## हिन्दू समाज में जागृति

सत्य क्रान्ति के बाद चिन्तनशील भारतवासियों को आभास हो गया कि अंग्रेजों से पिंड छुडाना आसान नहीं है और इसके लिए भारतीय आत्मा के पुनरुज्जीवन पर आधारित दूसरे उपाय अपेक्षित हैं। इसी अवधि में हिन्दू समाज की कुम्भकर्णी निद्रा भंग हुई और उसके अंग प्रत्यंग में जागरण के चिह्न प्रकट होने लगे।

भारत में बंगाल वह प्रान्त था जिसे ब्रिटिश विजय का पहला आघात सहना पड़ा था। इस कारण, तथा नागरिकों के अत्यधिक भावुक और बुद्धि वैभव-सम्पन्न होने के कारण भी, बंगाल सांस्कृतिक नव-जागरण का केन्द्र बन गया। फलतः बंगाल में ही राजा राममोहन राय

' सर्वे आफ इंडियन हिस्टरी', दूसरा संस्करण पृ० २०३।

(१७८२–१८३५) जसे रत्न का जम हुआ और अनक नेता कम क्षेत्र म कूद पडे। राजा राममोहन राय को प्राय आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। वह असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न, सस्कृत और फारसी के प्रकाण्ड पण्डित और आग्ल सस्कृति के परम् प्रशसक थे। कुछ अय लोगा के समान उनका भी विचार था कि पाश्चात्य सम्पक से भारत को बहुत लाभ होगा। इसलिए उ होन पश्चिम से ग्राह्य सर्वोत्तम तत्वा को आत्मसात करने का पूरा यत्न किया। उन्होंने बगाल में अग्रेजी माध्यम के विद्यालय स्थापित करने में प्रमुख भाग लिया। ऐसे कुछ विद्यालयो का खच उ होन स्वय उठाया। बगाल के नवयुवक उन आधुनिक विद्यालया में आधुनिकतम शिक्षा पाने में समय हुए। सन् १८२३ मे जब सरकार ने सस्कृत के अध्ययन के लिए एक नए कॉलेज को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया, तब उ होने गवनर-जनरल लॉर्ड ऐम्हर्स्ट को जो प्रसिद्ध विरोध-पत्र[1] भेजा था उससे स्पष्ट है कि वह पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के कितन बडे समयक थे। प्राजल अग्रेजी मे लिखे गए इस पत्र से, बाद में मैकॉले आदि अग्रेजी समथको को प्राच्यविदो से सघर्ष करन में बहुत सहायता मिली।

राजा राममोहन राय के जीवन और काय-कलाप में बहुत रोचकता और विविधता थी[2] किन्तु जिस महान काय के कारण वह अब

[1] इग्लिश वक्स पृष्ठ ४७१–७४।

[2] 'रीनकाट के शब्दा म राममोहन राय का अपार मान और अदभुत जीवन इसी सश्लेषण का प्रतीक है जिसके लिए उन्होंने जीवन भर साधना का। वह हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो के अपार ज्ञाता थे। अरबी फारसी, सस्कृत, अग्रजी हिब्रू, ग्रीक और लटिन पर उनका अपूव अधिकार था। उ ह जाति और परिवार से बहिष्कृत होना पडा था। उसके बाद वर्षों तक काशी और तिब्बत म रह कर अन्त म सन १७९६ म वह घर लौटे थ और इन अनुभवा के बाद उ होन अपन जीवन की लक्ष्य साधना आरम्भ की थी। सन्यिा स निष्क्रियता आलस्य और भ्रष्ट प्रथाआ (जसे सती प्रथा जिसे रोकन के लिए उन्होने ब्रिटिश शासका को विवश किया था) से दूषित हिन्दू धम के विरुद्ध अविश्रान्त आन्दोलन करके उन्होंने अपने समय की सामाजिक राजनीतिक और सास्कृतिक समस्या का समाधान ढूँढा था।' — द साल आफ इडिया पृष्ठ २३०।

भी स्मरण किए जाते हैं वह है, सन १८२८ में ब्रह्म सभा की स्थापना। अठारह वर्ष बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी का ब्रह्म समाज के रूप में विकास किया। यह संगठन आधुनिक भारत में हिन्दू धर्म के सुधार और उसके अनिष्टकारक और अनावश्यक तत्त्वों को निकाल कर उसकी पूर्वकालीन महिमा को स्थापित करने का पहला सक्रिय प्रयास था। ब्रह्म सभा के ट्रस्ट डीड (दान पत्र) में राजा राममोहन राय ने ट्रस्ट को विश्व की कर्त्ता और धर्ता अनन्त, अगोचर, निर्विकार सत्ता को, उसकी पूजा और श्रद्धा के सुमन के रूप में समर्पित किया था। उनका हिन्दू धर्म का सुधार वेदों और उपनिषदों की बहुत ही विवादग्रस्त व्याख्या पर आधारित था और अपने परवर्ती स्वामी दयानन्द की तरह, उन्होंने भी मूर्त्तिपूजा का घोर विरोध किया था। स्वयं राजा साहब और केशवचन्द्र सेन जैसे उनके बहुत-से अनुयायी ईसाई धर्म से भी बहुत प्रभावित हुए थे।

एक महत्त्वपूर्ण द्रष्टव्य बात यह है कि ब्रह्म समाज और उसके संस्थापक की मृत्यु के पश्चात बनी उसकी अनेक शाखाओं आदि सभी संगठनों के सुधार आन्दोलनों ने समाज-सुधार पर तथा मुस्लिम आधिपत्य की दीर्घ अवधि में और उसके पहले भी हिन्दू समाज में आई हुई कुरीतियों को समाप्त कर उसे उज्ज्वल बनाने पर जोर दिया। राजनीतिक मामलों पर उनका ध्यान बहुत कम गया। वस्तुतः राजा राममोहन राय ने तो एक बार कहा भी था कि 'जब हमारी परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हमें अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भी प्रकृति की सभी जड-जंगम वस्तुओं पर निर्भर रहना पडता है तब क्या राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की यह तीव्र उत्कंठा शश शृंग मात्र नहीं है? भारत को अभी वर्षों तक ब्रिटिश शासन की जरूरत है।' इस प्रकार ये प्रारम्भिक सामाज-सुधारक परवर्त्ती कांग्रेस के उदारदलीय सदस्यों के जन्मदाता माने जा सकते हैं। उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्व सामाजिक और आर्थिक सुधारों को दिया था।

राजा राममोहन राय के एक सहयोगी देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने राजा साहब की मृत्यु के बाद सुधार आन्दोलन का नेतृत्व किया। प्रकाण्ड पाण्डित्य और स्थित प्रज्ञता से सम्पन्न महर्षि ही अपने समाज

के प्रबुद्ध चिंतन-क्षेत्र मे प्रामाणिक पुरुष माने जाते थे, किन्तु सन १८६२ मे इस क्षेत्र मे बगाल के एक महान ईश्वरवादी सुधारक, केशवचंद्र सेन नाम के एक प्रतिभाशाली युवक का आविर्भाव हुआ। अपने जीवन के आरम्भिक काल म श्री सेन ईसाई धम से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने एक युवक-मण्डली बनाई जो हिन्दू धम सुधार के प्रचार म ही नही, अपितु अकालग्रस्तो की सहायता जैसी सामाजिक सेवाओं मे भी सोत्साह भाग लेती थी। किंतु धीरे धीरे समाज के पुराने रूढिवादी दल और सेन[1] के नेतत्व मे काम करनेवाले युवा सुधारक वग के बीच फूट पडने लगी। अन्तत देवेंद्रनाथ ठाकुर के नेतत्व मे पुराना दल 'आदि ब्रह्म समाज नाम से सीमित हो गया और केशवचन्द्र सेन ने सन् १८६८ मे 'भारतीय ब्रह्म समाज' की स्थापना की।

यहा इन सस्थाओं के कार्य-कलापो का विस्तृत विवरण देना जरूरी नही है। सन् १८७१ म छियालीस वष की अल्प आयु मे सेन का देहान्त हुआ और सन् १८७८ मे उनके कुछ अनुयायियो ने 'साधारण ब्रह्म समाज' की स्थापना की। उससे पूव सेन से प्रभावित होकर पश्चिमी भारत के दो प्रमुख व्यक्तियो, रानडे और भण्डारकर ने, सन् १८६७ मे, 'प्राथना समाज स्थापित किया था। बगाल और महाराष्ट्र मे विशेष रूप से इन मानव प्रेमी और प्रबुद्ध सस्थाओं का प्रभाव बहुत था। इन दोनो ही प्रान्तो ने बुद्धिजीवियो मे बौद्धिक चेतना जगाने म सहायता दी और ऐसे योग्य और विज्ञ जनो को जन्म दिया जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारम्भिक काल मे महत्त्वपूण भूमिका निभाई। उनकी कमी यह थी, कि पारम्परिक हिंदू धम का विरोध करने के कारण वे जनसाधारण के हृदय को आन्दोलित नही कर सके।

उन्नीसवी सदी के एक और महान् भारतीय व्यक्तित्व थे स्वामी दयानन्द सरस्वती। श्री अरविंद ने उन्हे 'भारत की एक महान् निर्माण कारी आत्मा' कहा है। सन १८७५ ई० मे दयानन्द द्वारा स्थापित

---

[1]देखिए द कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया चतुथ खड डॉ० कालिदास नाग का ब्रह्म समाज विषयक लेख।

आर्य समाज' वस्तुतः हिन्दू पुराण पंथ का विरोधी सुधारान्दोलन था। इस तरह वह ईसाई धर्म उन्मुख ब्रह्म समाज से भिन्न था।

महर्षि दयानन्द ने वैदिक हिन्दू धर्म के आदिकालीन शुद्ध रूप को ही पुनः अपनाने का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने वेदोत्तर काल में निर्मित पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद जैसे सभी शास्त्र ग्रन्थों का तिरस्कारपूर्ण खण्डन किया। उन्होंने वेदान्त, तन्त्र और पुराण प्रतिपादित हिन्दू धर्म सभी पर समान रूप से प्रचण्ड प्रहार किया। उनके ओज-पूर्ण मत-प्रतिपादन के फलस्वरूप हिन्दू समाज में प्रबल परिवर्तन हुआ। यही नहीं, उन्होंने जाति-पाँति मूलक वर्गीकरण का भी घोर विरोध किया, स्त्रियों को समाज में पूर्णतः समान स्थान देने का समर्थन किया, अस्पृश्यता के विरुद्ध घोर संघर्ष किया और विशेष कर पंजाब और उत्तर प्रदेश में अत्यधिक सफल और व्यापक रूप से शिक्षा प्रचार आन्दोलन चलाया। स्वामी दयानन्द असाधारण शक्ति, ओज और उत्साह से सम्पन्न मानव और सजीव प्रणोदक थे। उनका बहुत ही व्यापक प्रभाव हुआ। उनका आर्य समाज पंजाब में हिन्दू धर्म के समग्र ढाँचे को झकझोर देने में सफल हुआ। उसने हिन्दू धर्म में एक नये ओज और बल का संचार किया। इतनी सफलता बंगाल में ब्रह्म समाज को नहीं मिल सकी थी।[1]

ब्रह्म समाज की अपेक्षा आर्य समाज आन्दोलन की राजनीतिक सुर-संगति अधिक स्पष्ट थी। वास्तव में गैनकाट तो यहाँ तक कहते हैं 'आज इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि सन १९०५ का बंगाल का महान विद्रोह परोक्ष रूप से आर्य समाज की धार्मिक राष्ट्रीयता का ही परिणाम था और महर्षि दयानन्द का संगठन राजनीतिक राष्ट्रीयता का प्रथम मूल केन्द्र बिन्दु था।' आर्य समाज ने दिखा दिया कि जो हिन्दू धर्म दीर्घकाल तक अपने ही निर्मित क्षीर-सागर में शेषशय्या पर सोता रहा है वह अब तेजी से प्रबुद्ध हो रहा है और उन्नीसवीं सदी की वास्तविकताओं का सामना करने के लिए तत्पर है। उसने यह भी

---

[1]वास्तव में पंजाब में सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से आर्य समाज आज भी एक प्रबल शक्ति है।

[2]'... मन्त्र और नदियाँ' पृ० ~३६।

सिद्ध कर दिया है कि हिंदू धर्म रूपी भस्मराशि में आच्छन्न एक स्फुलिंग अब भी विद्यमान है जो किसी निपुण हाथ में प्रज्वलित होने पर जीवन और तेज की ज्वालाएँ उत्पन्न कर सकता है। हिन्दुत्व के सौम्य और कभी-कभी दलित प्रतीत होने वाले स्वरूप का तिरोधान होने लगा।

फिर भी, ब्रह्म समाज की तरह आर्य समाज की प्रभविष्णुता का आधार भी मुख्यतः बौद्धिक था, क्योंकि उसने भी हिंदू धर्म की रूढ़ियों पर वार किया था। अतः उसका प्रभाव भी हिंदू समाज के कुछ ही क्षेत्रों और भागों तक सीमित रहा। इसी स्थल पर एक और धार्मिक आंदोलन का उल्लेख किया जा सकता है जो विदेश में उत्पन्न होने पर भी अधिकांशतः हिंदू सिद्धान्तों पर आधारित था और जो उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में आ गया था। न्यूयॉर्क में सन् १८७५ में मादाम ब्लावात्स्की और कर्नल ऑल्कट द्वारा स्थापित थियासॉफिकल सोसाइटी ने तिब्बती बौद्ध धर्म के रहस्यमय और निगूढ़ तत्त्वों तथा हिंदू विचारों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया था। कुछ समय तक थियोसोफी का पश्चिमी संसार और भारत में काफी बोल-बाला रहा। अनेकानेक हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करके उसने बड़ी सेवा की और इस तरह अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त हिंदुओं के हृदय में अपने प्राचीन और पूज्य वाङ्मय के प्रति आस्था जगाने में सहायता दी। श्रीमती एनी बेसेंट के प्रवेश के साथ तो थियासॉफी और राजनीतिक 'होम रूल आंदोलन' का परस्पर सीधा सम्बंध स्थापित हो गया। इसमें संदेह नहीं है कि संकट के समय में हिन्दू समाज पर इस अद्भुत पंथ का हितकारी प्रभाव पड़ा और उसके पुनरुत्थान में इससे सहायता मिली।

## हिन्दू समाज के दो उज्ज्वल रत्न

परंतु यह आवश्यक था कि हिंदू धर्म का वास्तविक आधारभूत पुनरुज्जीवन उसके परम्परागत ढांचे के भीतर में ही उद्भूत हो। यह कार्य विश्व के धार्मिक इतिहास के दो उज्ज्वलतम रत्नों—श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद—के हाथों से होना था। इन

आध्यात्मिक पुरुष जिनका के जीवन और उपदेश आधुनिक भारतीय विचारधारा के इतिहास के प्रेरणास्रोत और चिरस्थायी रंगभूमि बन।[1] दक्षिणेश्वर के सन्त और उनके महान शिष्य ने समकालीन भारत के मानस पर कितना बड़ा प्रभाव डाला इसी की यहाँ चर्चा की जाएगी। स्वामी विवेकानन्द के देहान्त के आधी शताब्दी बाद भी इस प्रभाव की शक्ति और गम्भीरता में रंचमात्र भी कमी नहीं आई।

बंगाल के हुगली जिला के कामारपुकुर गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में श्री रामकृष्ण (१८३६–१८८६) का जन्म हुआ था। ध्यानावस्था में आनन्द विभोर हो जाने के असाधारण लक्षण उनमें अल्पायु में ही प्रकट होने लग थे। उन्नीस वर्ष की अवस्था में वह अपने भाई के साथ कलकत्ता पहुँचे। उनके भाई शहर के पास बन नए मन्दिर के पुजारी नियुक्त हुए थे। रानी रासमणि द्वारा स्थापित वह विशाल मन्दिर गंगा के किनारे दक्षिणेश्वर में था और उसमें शिव और कृष्ण की मूर्तियाँ भी थी। पर प्रधान मन्दिर भगवती काली का था और देवी के अनन्य भक्त के रूप में ही श्री रामकृष्ण ने आध्यात्मिक साधनाओं और सिद्धियों का विस्मयकारी जीवन आरम्भ किया।

काली माता की कल्पना बहुत गहन गम्भीर है। भारतीय इतिहास की अनन्त कालावधि के दौरान हिन्दू जीवन पर उसका गहरा प्रभाव रहा है। वह शिवरूप महान ब्रह्माण्डीय सत्ता की विरोधी है यद्यपि अन्तत तथा शाश्वत रूप से दोनों एकीकृत भी है। शिवस्वरूप भव की प्रतिरूप भवानी है जो प्रतिरूप होते हुए भी उसी का शाश्वत अभेद्य आधार है। उसके दो रूप है। अध्यात्म पथ से विचलित होकर उस दिव्य शक्ति के विपरीत पथ का अनुसरण करने वालो के लिए उसका रौद्र चण्डी रूप है जबकि अपने आध्यात्मिक मूल के साथ तादात्म्य की कामना करने वाले भक्तों के लिए उसका वात्सल्य और स्नेहमयी माता का दिव्य और सौम्य रूप है। इस तरह एक ही मूर्ति में दो सर्वथा विपरीत स्वरूपों का समन्वय देखकर हिन्दू धर्म ने प्रतीकवाद की

---

[1] दोनों विभूतियों पर विरचित साहित्य विपुल परिमाण में है। अन्य लोगों के अतिरिक्त रोम्याँ रोला ने भी श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द दोनों की जीवनियाँ लिखी हैं।

गहनता और गम्भीरता से अपरिचित प्रेक्षक चकित हुए बिना नहीं रह सकते। यह द्रष्टव्य है कि भवानी, भवतारिणी, दुर्गा आदि नामा-वाली काली देवी उन अनेक हिन्दू नेताओं की इष्ट देवी रही है जिन्होंने भारत को दासत्व की शृंखला से मुक्त कराने का और जरूरत पड़ने पर शक्ति का भी सहारा लेने का प्रयत्न किया है। महाराष्ट्र के महान वीर शिवाजी, राजस्थान के शूरवीर राजपूत, हमारी सदी के आरम्भ के सभी अतिवादी उग्र क्रान्तिकारियों ने जिनमें श्री अरविन्द भी थे, उस शक्ति देवी से बल और साहस प्राप्त करने की कामना की थी।

दक्षिणेश्वर में रहते समय श्री रामकृष्ण को अपने भीतर अध्यात्म शक्ति के प्रभूत विकास का अनुभव होने लगा था। आनन्द विभोरता, दिव्य-दर्शन, समाधि आदि उनके जीवन के नित्य क्रम में हो गए थे और उनका अधिकांश समय भजन-कीर्तन में बीतने लगा था। भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन पाने की उनकी उत्कट अभिलाषा अन्त में सफल हुई और वह अनेक आध्यात्मिक गुरुओं के निर्देशन में हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में वर्णित गूढ़ सम्बन्धों का अनुभव प्राप्त करने की दिशा में प्रवृत्त हो गए। भक्ति भाव की प्रबलतम आनन्द विभोरता से लेकर वेदान्त के अन्तिम लक्ष्य अव्यक्त परम ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाली निर्विकल्प समाधि की परम उदात्त शान्ति तक का अनुभव वह प्राप्त करने लगे। उसके बाद उन्होंने इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का पालन शुरू किया और दोनों ही में उनको सुखद आध्यात्मिक अनुभूति हुई।

इन सभी असाधारण अनुभवों का समन्वित परिणाम बहुत बड़ा था। एक ओर उनको यह प्रत्यक्ष और अभिभूतकारी अनुभूति हुई कि हिन्दू धर्म और इतर धर्मों के आध्यात्मिक मार्गों का ठीक तरह से अनुसरण किया जाए तो वे सभी एक ही लक्ष्य पर पहुँचाते हैं।

[1]वास्तव में क्रान्तिकारी संन्यासियों को दीक्षा देने वाले गुप्त समाज का समर्पण श्री अरविन्द ने भवानी को ही किया था और उनकी प्रसिद्ध पुस्तिका 'भवानी मन्दिर' में देवी के शक्ति रूप की विशद व्याख्या की गई है। ये विवरण पुस्तक में आगे दिए गए हैं।

यह वही सिद्धान्त है जिसका प्रतिपादन सहस्रों वर्ष पूर्व वेदों में किया गया था।[1] दूसरी ओर इनसे उनकी ख्याति चतुर्दिक फैल गई और हुगली के एक अज्ञात गाँव के इस अनपढ़ बंगाली युवक के पास कोटि-कोटि जनसमुदाय अद्भुत रूप से खिंचे चले आने लगे। अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित, ग्रामीण और नगर निवासी सभी दक्षिणेश्वर की दिशा में उन्मुख होने लगे। आध्यात्मिक सिद्धियों को प्राप्त करनेवाले सन्त हिन्दुओं में सर्वाधिक श्रद्धा और भक्ति के पात्र रहे हैं। विद्या और ज्ञान का भी आदर अवश्य किया गया है, पर केवल विद्वान और ज्ञानी श्रद्धा के अधिकारी कभी नहीं हुए हैं। आध्यात्मिक मार्ग से अनुभूति प्राप्त सन्त ही परम श्रद्धा का भाजन बन सका है—चाहे वह राजा हो या रंक, प्रकाण्ड पण्डित हो या अबोध तन्तुवाय, राजकुमारी हो या भिखारिन। इसी से स्पष्ट है कि श्री रामकृष्ण के निवास-स्थान की दिशा में जनसमूह क्यों उमड़ पड़ा था।

उनके पास आने वाले असंख्य लोगों में बंगाल के समकालीन साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र के अग्रणी व्यक्ति भी थे। माइकेल मधुसूदन दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन आदि महापुरुष इस सन्त के निकट सम्पर्क में आ गए थे। जो भी उनके पास आए, सभी को रामकृष्ण ने एक ही सन्देश दिया—इस पथ और उस पथ, इस धर्म या उस धर्म की अधिक महिमा के वितंडावाद में अपना समय नष्ट न करो, बस शुद्ध और अनुरक्त मन से भगवान को पाने का यत्न करो। उन्होंने अपने उदाहरण से सिद्ध करके दिखा दिया कि हिन्दू धर्म किसी भी तरह एक पुराणपंथी और मरणोन्मुख धर्म नहीं है (जैसा कि नवशिक्षित प्रबुद्ध जन समझते हैं) वह तो सच्ची आध्यात्मिकता की अक्षय निधि है। दक्षिणेश्वर में शान्त जीवन बिताते हुए भी श्री रामकृष्ण ने एक आध्यात्मिक दीप स्तम्भ की तरह हिन्दू समाज में नवजीवन की तीव्र प्रकाश किरण फैला दी। जातियों-सम्प्रदायों, थोथे संस्कारों और कर्मकाण्डों में उनका

---

[1]तुलना कीजिए 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही सत्य को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं (ऋग्वेद १६४-४६)।

विश्वास न था। वह दिव्य अनुभूति के दूत थे। वह उन दुलभ महापुरुषा मे से एक थे जो समय-समय पर प्रकट हाकर आध्यात्मिक नान्ति[1] का बीजारोपण करते ह।

समकालीन व्यक्तियो के अतिरिक्त श्री रामकृष्ण के चरणा के प्रति अनेक प्रतिभासम्पन्न युवक शिष्य आकृष्ट हुए जिनमे अधिकाश बगाल मे स्थापित नये अग्रेजी स्कूला और कॉलेजो से निकले थे। उन युवका मे से अनक अपनी पारम्परिक सस्कृति मे विश्वास खाकर कटुता तथा आध्यात्मिक निराशा के समुद्र मे गोते खा रहे थे। उह गुरुदेव के रूप मे एक अपूर्व शरणस्थल, एक प्रवल शक्ति और प्रेरणा का स्रोत मिला जिसने उनकी आध्यात्मिक अकिंचनता का दूर किया और उनके व्यक्तित्व को नया रूप दिया। इन शिष्यो मे सर्वाग्रणी नरेद्रनाथ दत्त थे जा बाद म स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्व-विख्यात हुए।

मत्यु के कुछ क्षण पहले श्री रामकृष्ण न स्पष्ट रूप से स्वामी विवेकानन्द को अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी घोषित किया और सन् १८८६ मे अपन गुरुदेव के स्वगवासी होने पर विवेकानन्द ने शिष्या का एक समवित और गुरु-समर्पित सघ बनाने का भार स्वय सभाला। विवेकानन्द असाधारण और विशिष्ट गुणा से सम्पन थे। उनम ऊर्जा, शारीरिक बल और अपूव बुद्धि वभव का अद्भुत समवय था। वह शरीर, स्वभाव, शिक्षा, बुद्धि आदि सभी बाता मे अपने गुरुदेव से सवथा भिन थे पर फिर भी विवेकानद श्री राम-कृष्ण के प्रभाव मे आ गए और सुकरात और प्लेटा के बाद पहली बार उन्होने गुरु-शिष्य सम्बध का अपूव दृष्टान्त प्रस्तुत किया। उन्हान भी उस महान यूनानी शिष्य की तरह अपने गुरु की शिक्षा और

[1] कितनी दिलचस्प बात है कि अपन लम्बे और जटिल इतिहास के दौरान भारत न ऐसे पुरुषा और स्त्रिया का बराबर जम दिया है जिन्हाने गहरी निराशा के समय म भी आध्यात्मिक दीप जलाया था। भारतीय सस्कृति का अटूट निरन्तरता का यही रहस्य है। प्राचीन मिस्र, प्राचीन यूनान प्राचीन राम आदि की सस्कृतियाँ नष्ट हा चुकी हैं किन्तु भारत अपने अतीत के साथ अपना जीवन्त और अनिवाय सम्बध बनाए हुए है।

सन्देश का दूर-दूर तक प्रचार किया। उनका सन्देश सम्पूर्ण सभ्य समाज में फैल गया।

विवेकानन्द को शीघ्र ही अपनी असाधारण प्रतिभा का उपयोग करने का सुवर्ण अवसर मिला। श्री रामकृष्ण की मृत्यु के बाद, संन्यासी के वेश में वह अपने प्रिय गुरुदेव के आदर्शों और सन्देशों के प्रसार-प्रचार में समुचित भाग का अर्पण करते हुए भारत भर में घूमे। सन १८९३ में शिकागो में विश्व मेले में आयोजित होने वाली धार्मिक सभा का समाचार उन्होंने सन १८९२ में सुना। उन्हें कुछ कठिनाई तो हुई पर वह अमरिका-यात्रा की व्यवस्था करने में सफल हो गए। अनेक निराशाओं और तिरस्कारों को झेलने के बाद अन्त में वह शिकागो पहुँच ही गए और वहाँ की धार्मिक सभा में प्रतिनिधि सदस्य बनने में सफल हुए।

उस सभा में उनका प्रवेश पूर्णतः नाटकीय था। एक अज्ञात और ख्यातिहीन भारतीय होते हुए भी वह अपने व्यक्तित्व की शक्ति से उस सभा में अपनी धाक जमाने में सफल हुए और उन्हीं के कारण आज भी वह सभा स्मरणीय है। पहले दिन के उनके भाषण ने, जिसमें उन्होंने सदस्यों को 'अमेरिका के भाइयो और बहनो' कहकर सम्बोधित किया था, उस बड़ी सभा में एक सनसनी फैला दी और उनके बाद के भाषणों से उनको एक अपूर्व धर्म प्रचारक की प्रतिष्ठा मिल गई। 'न्यूयॉर्क हेराल्ड' ने लिखा कि वह 'पार्लियामेंट ऑफ रिलिजंस (धर्म सभा) में आने वाले सदस्यों में से निस्सन्देह सबसे महान् व्यक्ति थे।' इस पत्र ने आत्मग्लानि के साथ यह भी लिखा कि 'उनके भाषण सुनने के बाद हम समझते हैं कि भारत जैसे सुशिक्षित देश में धर्म प्रचारक भेजना हमारी मूर्खता है।'

विवेकानन्द पश्चिम में हिन्दू धर्म के सच्चे सन्देश ले गए। उन्होंने पश्चिम को अध्यात्म तत्त्व का वास्तविक सार दिया, कर्मकाण्ड का वह आडम्बर और पाखण्ड नहीं, जिसे पश्चिम के लोग प्रायः भ्रमवश हिन्दू धर्म का सर्वस्व समझे बैठे थे। वेदान्त के उदात्त सिद्धान्तों को परिष्कृत और प्रवाहमयी वाणी में अभिव्यक्त किया। अमेरिका और इंग्लैण्ड की दिग्विजय के पश्चात वह सन १८९७ में भारत लौट आए।

अपने देश में उन्हें एक वीर सेनानी का-सा स्वागत-सत्कार मिला। उनके विदेश प्रवास की अवधि में भी उनकी विजय के अनेक समाचार भारत में पहुँचते रहे थे जिसके फलस्वरूप उनके देशवासियों में अपनी आध्यात्मिक परम्परा के प्रति एक नया स्वाभिमान जागृत हुआ था। पश्चिम वैज्ञानिक और शिल्प वैज्ञानिक क्षेत्रों में भारत से भले ही आगे हो, पर विवेकानन्द की विलक्षण यात्रा ने सिद्ध कर दिया कि आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भारत ही शाश्वत और सनातन जगद्गुरु है।

भारत लौटने पर स्वामी जी ने कन्याकुमारी से कश्मीर तक की यात्रा की। यह यात्रा एक परिव्राजक संन्यासी की यात्रा नहीं थी। यह तो एक आध्यात्मिक गुरु का विजय प्रयाण था। इस यात्रा के समय दिए गए उनके भाषणों में भावावेशपूर्ण वाक्पटुता के साथ भारत और उसकी पददलित जनता के प्रति अगाध प्रेम व्यक्त किया गया था। उन्होंने अपने भाषणों में बताया कि ऐसी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा होते हुए भी भारत की विशाल जनता सामाजिक और आर्थिक दुरवस्था की शिकार है। हिन्दू जनता की इस अधोगति के विरुद्ध, हिन्दू धर्म के नाम पर किए जाने वाले प्रबल पाखंडों के विरुद्ध, भारत माता के पवित्र नाम को कलंकित करने वाले कठिन जाति-बंधनों के विरुद्ध और स्त्रियों पर किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध उन्होंने अपने भाषणों में बारम्बार सिंहनाद किया। लेकिन उनकी वाणी केवल विध्वंस की वाणी नहीं थी। चूल्हे चौके और कच्चे-पक्के भोजन तक सीमित आचार-विचार वाले हिंदुत्व के दिखावों का तिरस्कारपूर्ण खण्डन करते हुए उन्होंने अपने श्रोताओं के सम्मुख भारत की आध्यात्मिक महिमा का भव्य चित्र ही प्रस्तुत किया। जैसा कि एक आधुनिक समीक्षक ने कहा है—'स्वामी जी ने दूषित और पतित दुरवस्था के कृत्रिम आवरण से आच्छन्न और अंतस्तल में निगूढ भारतीय जन मानस के अनंत सामर्थ्य का उद्‌घाटन और साथ ही भारत के जाज्वल्यमान और प्रतापी भविष्य की गरिमा का उदात्त चित्र उपस्थित किया।'[1]

[1] द कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया भाग ४ (कलकत्ता का रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट आफ कल्चर) 'श्री रामकृष्ण ऐण्ड स्पिरिचुअल रनायसाँ' में स्वामी निर्वेदानन्द की उक्ति।

वास्तव में, आधुनिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप हिंदू धर्म की पुनर्व्याख्या और पुनः प्रतिपादना विवेकानंद की साधना थी। उनके लेखों और भाषणों के द्वारा नई अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए उन मेधावी प्रबुद्धजनों को, जिनके हाथ में भारत का भविष्य था, अपने प्राचीन धर्म की प्रबल शक्ति का, अपने चतुर्दिक विद्यमान आध्यात्मिक सम्पदा का ज्ञान हुआ। जहाँ पहले केवल निर्वेद और अविश्वास का साम्राज्य था वहाँ अब नई आशा और प्रेरणा का संचार हो चला। ३९ वर्ष की अल्पायु में सन् १९०२ ई० में स्वामी विवेकानंद का देहान्त हो गया, किन्तु अपनी मृत्यु से पूर्व वह एक वास्तविक क्रांति को जन्म दे चुके थे। कलकत्ता के पास बलूर को केन्द्र बनाकर सन् १८९७ में उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। उस दिन से आज तक यह निष्ठावान् समाज श्री रामकृष्ण और उनके महान शिष्य के ज्ञानपूर्ण और प्रेरणाप्रद सिद्धान्तों का प्रचार करता हुआ भारत और संसार के कोने-कोने में फैल गया है।

विवेकानंद के संदेश के राजनीतिक पहलुओं को समझने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। उनके उपदेश खुले तौर पर किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं थे। वे तो केवल हिंदू समाज में एक प्रबल पुनरुत्थान लाने की दिशा में प्रवृत्त थे। यह प्रथम अवसर था जब सही माने में जनसाधारण के मानस को स्पर्श करने का यत्न किया गया था। पहली बार पारम्परिक हिंदू धर्म के अन्तस्तल से ही एक सुधार आंदोलन का पादप प्रस्फुटित हुआ था।[1] इसकी राजनीतिक प्रतिक्रियाएँ होना अनिवार्य था और इसीलिए तिलक और अरविन्द जैसे अनेक राष्ट्रीय नेता विवेकानंद से बहुत ही प्रभावित दिखाई देते हैं। यदि राममोहन, रानडे उदार दल वालों के बौद्धिक

---

[1]तुलना कीजिए (विवेकानन्द ने) अपने देशवासियों को अपनी निजी संस्कृति की गरिमा और वरिष्ठता की प्रबल अनुभूति कराई। पददलित जनसमुदाय की सेवा करने के उनके अदम्य उत्साह के फलस्वरूप भारत के राष्ट्रीय नेताओं के समक्ष क्रियाकलाप का नया मार्ग प्रशस्त हुआ। पाश्चात्य दृष्टिकोण रखने वाले ये नेता अब तक अपने इन असंख्य देशवासियों से अलग ही बने रहे थे। सोर्सेज आफ इंडियन ट्रेडिशन (कोलम्बिया) पृ० ६४७।

पूवज कहे जा सकते ह तो विवेकान द उग्रवादियो ने आध्यात्मिक गुरु माने जाएँगे। परवर्त्ती अवधि मे उग्रवादी नेताओ द्वारा व्यापक रूप से प्रस्तुत किए गए अनेक विचार मूलत विवेकानन्द के लेखो मे देखे जा सकते ह। वे विचार ये हैं भारत के राष्ट्रीय जीवन मे धर्म का मौलिक महत्त्व है (भारत मे धम राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है, वही राष्ट्रीय जीवन के सम्पूण सगीत का मूल स्वर है), सामाजिक सुधारो की तुलना मे आध्यात्मिकता का महत्त्व अधिक है (तथाकथित सामाजिक सुधारो के पचडे मे न पडो क्योकि आध्यात्मिक विकास किए विना किसी प्रकार का सुधार या विकास सम्भव नही), ससार को आध्यात्मिकता का प्रकाश देना भारत के भाग्य मे लिखा है और इसलिए भारत को अपना गरिमामय स्थान पुन प्राप्त करना होगा।[1] इन विचारो का समाहार करते हुए कह सकते ह कि हिन्दू समाज की सास्कृतिक आत्मा का पूण पुनरुद्धार परमावश्यक है। दे रीनकोर्ट ने विवेकानन्द के प्रबल प्रभाव का सक्षेप मे उल्लेख इस प्रकार किया है 'कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सवश्रेष्ठ रहस्यवादी दाशनिक अरविन्द घोष और विदेशी साम्राज्य को हिलाकर अन्त मे चकनाचूर करने वाले महात्मा गाधी जैसे बीसवी सदी के आरम्भिक वर्षो के सभी क्षेत्रो के अग्र नायको ने भारत के मानस को स्पन्दित करने वाले रामकृष्ण परमहस और उसकी आत्मा को प्रबुद्ध करनेवाले विवेकानन्द के प्रति अपना आभार माना है।'[2]

इस तरह हम देखते ह कि उन्नीसवी शती मे भारत म एक महान नवजागरण हुआ जिसका प्रधान कारण ब्रिटिश प्रभाव था। बडे-बडे सुधारक नेता और आन्दोलन—ब्रह्म समाज के राजा राममोहन राय और देवेन्द्र बाबू, भारतीय ब्रह्म समाज के केशवचन्द्र सेन, प्राथना

---

[1] तुलना कीजिए आधुनिक आवश्यकताओ स तारतम्य विठाने के लिए विवेकानन्द ने हिन्दू धम की नई व्याख्या की। इस व्याख्या ने इस विचार को जन्म दिया कि भारत के लिए पश्चिम म व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है, पर भौतिकवादी पश्चिम को अपनी प्राचीन और उदात्त धमबुद्धि देना भी भारत का ही काम है। सोर्सेज आफ इडियन ट्रडिशन (कोलम्बिया) पृ० ६४८।

[2] द सोल आफ इडिया पृ० २५०।

समाज के भण्डारकर और रानडे, आर्य समाज के दयानन्द, थियासाफि-कल सोसाइटी के ब्लावात्स्की और एनी बेसेंट, तथा श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द सभी ने मिलकर हिन्दू समाज रूपी अगम्य सामाजिक बौद्धिक और आध्यात्मिक गर्भ में ऐसा आन्दोलित किया कि पुनरुत्थान या राष्ट्रीय आन्दोलन रूपी ज्वालामुखी धधक उठा।

सन् १८९३ में जब विवेकानन्द ने शिकागो में 'पार्लियामेंट ऑफ रिलीजंस' में भाषण दिया था उसी वर्ष श्री अरविन्द चौदह वर्ष इंग्लैण्ड में बिता कर भारत लौटे थे। उन्होंने भारत में अपने वयस्क जीवन का आरम्भ जिस वातावरण में किया उसकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देने के बाद अब अगले अध्यायों में उनके राजनीतिक विचारों के विकास का विवेचन है। उनके अल्पावधिक किन्तु नाटकीय और महत्वपूर्ण सक्रिय राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन के फलस्वरूप ही उनके ये विचार उत्पन्न हुए थे।

खंड २

# श्री अरविन्द

## राजनीतिक जीवन की तैयारी

अध्याय ३

# बाल्यकाल और युवावस्था   इग्लैण्ड मे

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ को कलकत्ता मे हुआ। वह डॉ० कृष्णधन घोष और श्रीमती स्वर्णलता देवी[1] के तीसरे पुत्र थे। उनके पिता सिविल सर्जन थे और इग्लैण्ड मे डाक्टरी का उच्च प्रशिक्षण पाकर आए थे। वह बड़े कार्यकुशल और प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे। इग्लैण्ड से लौटने के बाद उन्होने अपने गाव (पश्चिम बगाल के हुगली जिला मे कोनगर गाव) के रुढिवादी लोगो की इस माग को ठुकरा दिया कि वह समुद्र पार की यात्रा करने के कारण प्रायश्चित्त करें। जिस हिन्दू धर्म ने सदियो पहले समुद्रो के उस पार दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो मे अपने सास्कृतिक प्रतिनिधि भेजे थे, उसके सच्चे स्वरूप के साथ इन अनर्गल रुढियो का कोई सम्बन्ध न था। ये रुढिया तो उस सकुचित साम्प्रदायिकता की विशेषता थी जो अनेक सदियो के विदेशी शासन के कारण भारत मे पैदा हो गई थी। डॉ० घोष ने ऐसा प्रायश्चित्त करने की अपेक्षा उस गाव को सदा के लिए छोड देना ही अच्छा समझा।

अरविन्द के पिता अग्रेजी जीवन पद्धति से बहुत प्रभावित होकर लौटे थे। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है जो श्री अरविन्द के शैक्षिक

---

[1]इस सिलसिले मे उनके बाल्यकाल और युवावस्था का केवल सक्षिप्त विवरण दिया जाएगा। विस्तृत विवरण के लिए उनकी जीवनिया को पढना चाहिए। प्रमुख जीवनिया के०आर० श्रीनिवास अय्यगार का 'श्री अरविन्दो', और ए०बी० पुरानी का 'लाइफ ऑफ श्री अरविन्दो' आर०आर० दिवाकर का 'महायोगी' और पाण्डिचेरी मे प्रकाशित 'श्री अरविन्दो ऐंड हिज आश्रम'। 'श्री अरविन्दो आन हिमसेल्फ ऐंड ऑन द मदर' (पाण्डिचेरी) का 'अर्ली लाइफ इन इग्लण्ड' नामक अध्याय भी महत्त्वपूर्ण है क्योकि वह स्वय श्री अरविन्द की लेखनी से उपजा है।

जीवन पर काफी प्रकाश डालती है। श्री अरविन्द के अपने शब्दो मे

'स्वभाव, विचार और आदर्श मे वह इतने अग्रेज बनकर आए कि बालक अरविन्द केवल अग्रेजी और हिन्दुस्तानी बोलते थे और इंग्लण्ड से लौटने के बाद ही अपनी मातृभाषा सीख सके थे। डा० घोष का दृढ निश्चय था कि उनके बच्चो का पालन बिलकुल अग्रेजो जैसा हो। भारत मे प्रारम्भिक शिक्षा के लिए वह दार्जीलिंग की एक आइरिश नन के स्कूल मे भेजे गए। सन १८७६ ई० मे डॉ० घोष अपने तीनो पुत्रो को इंग्लण्ड ले गए और उन्होने उन्हे एक अग्रेज पादरी और उनकी पत्नी को इस निर्देश के साथ सौंप दिया कि बच्चे किसी भारतीय से कोई परिचय प्राप्त न कर सके और उन पर किसी प्रकार का कोई भारतीय प्रभाव न पडने पाए। इन आदेशो का अक्षरश पालन हुआ और अरविन्द भारत, उसके निवासियो, उसके धर्म और उसकी संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ होकर पलते रहे।'[1]

इस तरह सात वर्ष की आयु मे ही अरविन्द मैनचेस्टर के ड्रिवेट परिवार मे पहुँच गए। उनके भाई मैनचेस्टर ग्रामर स्कूल मे पढने लगे और श्री अरविन्द, ड्रिवेट दम्पति के पास घर पर ही पढते रहे। उस छोटी आयु मे ही प्राचीन भाषाओ (ग्रीक और लैटिन) की ओर उनका प्रबल रुझान था और ड्रिवेट ने उनको लैटिन का अच्छा ज्ञान करा दिया था। ड्रिवेट परिवार को सन् १८८५ मे आस्ट्रेलिया जाना पडा और अरविन्द लदन मे सेंट पाल मे भेज दिए गए। प्रधान अध्यापक डॉ० एफ० डब्ल्यू० वाकर ने अरविन्द को ग्रीक सिखाने का काम स्वय सभाला और जल्दी जल्दी ऊँची कक्षाओ मे चढा दिया। सन् १८८४ से १८८९ ई० तक पाँच वर्ष तक वह सेंट पॉल मे रहे, जहाँ उन्होने प्राचीन भाषाओ मे काफी योग्यता प्राप्त की और अनेक पुरस्कार पाए। अपना बहुत-सा समय उन्होने सामान्य पुस्तके पढने मे बिताया। इनमे विशेषकर अग्रेजी साहित्य, कविता और

[1] श्री अरविन्द ने अपने लिए अन्य पुरुष का प्रयोग जानबूझ कर किया है। उनके तत्कालीन जीवनी-लेखक ने अपनी पुस्तक सम्मति और संशोधन के लिए उनके पास भेजी थी। उन्हें पढ़ते हुए टिप्पणियों के रूप में उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी थीं। 'श्री अरविन्द्र ऑन हिमसेल्फ' पृ० ६।

उपयाम, फ्रासीसी साहित्य और प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक यूरोप के इतिहास की पुस्तकें थीं। उन्होंने थोडा-बहुत समय इटालीय, जर्मन और कुछ-कुछ स्पेनी भाषा सीखने मे भी लगाया। वह कविता लिखने म भी काफी समय लगाते रहे।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भिक प्रभावग्राही अवस्था म ही अरविन्द की तीक्ष्ण बुद्धि प्राचीन और समकालीन यूरोपीय संस्कृति के सर्वोत्तम तत्त्वों से परिचित हो चुकी थी। इसी के परिणाम-स्वरूप उन्होंने अग्रेजी मे दक्षता प्राप्त की और उनके ज्ञान का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया।

सेंट पॉल स्कूल म छात्रावास नही था। इसलिए तीनो भाइयो को आर्थिक कठिनाई का सामना करना पडता था, क्योंकि पिता म पैसा पहले अनियमित रूप से आता था और बाद म तो आना बिलकुल बन्द हो गया था। श्री अरविन्द ने लिखा है 'एक साल तक हमारा खाना सुबह को एक या दो सैंडविच, डबल रोटी, मक्खन और चाय के प्याले तक सीमित रहा। शाम का एक पेनी के सेवलाय तक।'[2]

सन् १८६० में सेंट पॉल की अन्तिम परीक्षा म उन्होंने प्राचीन भाषाओं के लिए ८० पौण्ड का वजीफा पाया और इससे वह केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज मे भर्ती हो सके। इडियन सिविल सर्विस की चुनाव परीक्षा म उन्हे ग्यारहवा स्थान प्राप्त हुआ और प्राचीन भाषाओं मे बहुत अधिक अक मिले। दो वर्ष बाद केम्ब्रिज म क्लासिक्स ट्राइपास के पहले खण्ड म वह प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए और अग्रेजी तथा साहित्य के लिए उन्हे कॉलेज पुरस्कार मिला। इसके साथ-साथ आई० सी० एस० की परीक्षा के लिए तैयारी भी वह करते रहे थे और इस प्रकार उसकी सभी क्रमागत परीक्षाओं म पास हो चुके थे। अन्ततः खुली प्रतियोगिता मे विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण हुए, लेकिन घुडसवारी मे पास न होने के कारण नौकरी के योग्य नही पाए गए। जैसा कि उन्होंने कहा है 'उनका आई० सी० एस० की ओर कोई झुकाव नही था और वह इस बन्धन से छुटकारा पाने का उपाय ढूढ रहे थे। अपने आप तो वह सर्विस खोना

[1]वही पृष्ठ १०।
[2]वही पृष्ठ १२।

नही चाहते थे क्योकि घर वाले ऐसा न करने देते, अत उन्होंने पिण्ड छुडाने की यह तरकीब निकाली कि घुडसवारी म असफल हो गए।'[1]

अब हम उन राजनीतिक प्रभावो का विश्लेषण करेगे जो इस प्रतिभाशाली युवक की प्रबुद्ध चेतना पर पडते रहे थे और जिन्होंने बडे नाटकीय ढग से उनकी भावी जीवनधारा को ही बदल दिया था। उनके पिता न श्री अरविन्द को सभी प्रकार के भारतीय प्रभावो स दूर रखने की अपनी इच्छा का कठिन पालन किया था, फिर भी यह स्पष्ट है कि भारत म जब उन्होने डॉक्टर के रूप मे काम किया तब उनके मन से अग्रेजो का सारा मोह दूर हो गया। वास्तव म वह अपने पुत्रो को 'द बगाली' नामक समाचार पत्र की कतरन भेजने लगे जिनम वह ऐसे समाचारो पर निशान भी लगा देते थे जिनम अग्रेजो द्वारा भारतीयो के प्रति किए गए दुर्व्यवहार और अपमान के विवरण होते थे। अपने पत्रो म ब्रिटिश सरकार को हृदयहीन सरकार बताकर उसकी निन्दा किया करते थे और ऐसा लगता है कि इन पत्रो न ही पहली बार श्री अरविन्द के ध्यान और रुचि को भारत की राजनीति की ओर मोडा। इस रुचि ने आगे बढकर उनमे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करने का विचार पदा किया, यद्यपि वह अपने देश के विषय मे वस्तुत अनभिज्ञ ही थे। केम्ब्रिज पहुँचने पर 'इडियन मजलिस' नामक एक सस्था से उनका सम्पर्क हुआ था, जिसकी स्थापना १८९१ ई० मे हुई थी। मजलिस के कार्यक्रमो मे उन्होने सक्रिय भाग लिया और वह उसके मन्त्री भी बने।[2] अन्य अनेक गर्म-खून वाले युवको के साथ उन्होने भी उसके वाद विवादो मे भाग लिया और ऐसा लगता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उन्होने अनेक क्रान्तिकारी भाषण भी दिए। केम्ब्रिज के कुछ अधिक जोशीले भारतीय युवको ने एक गुप्त सस्था बनाई थी, जिसका

---

[1] वही पृष्ठ १२। इस पूरी घटना का विस्तृत विवरण श्री अरविन्द इन इग्लण्ड पृष्ठ ३७–३८ पर ए० बी० पुरानी ने दिया है।

[2] यह सस्था अब भी मौजूद है लेकिन लिखा-पढी करने पर मालूम हुआ कि दुर्भाग्य स उसके पास श्री अरविन्द के उस समय के कोई अभिलेख या सभावृत्त प्राप्त नही है।

नाम 'द लोटस ऐण्ड डगर' रखा गया था। श्री अरविन्द अपने भाइयों सहित इस संस्था मे सम्मिलित हो गए। प्रत्येक सदस्य ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए काम करने की सामान्य प्रतिज्ञा की। साथ ही इस ध्येय की प्राप्ति के लिए कोई विशिष्ट काम करने का भी दायित्व लिया। श्री अरविन्द ने इस संस्था को 'मृतभ्रूण' संज्ञा दी है, लेकिन भारत आने पर आगे चलकर गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाओं के साथ उनके जितने घनिष्ठ सम्पर्क हुए, उन्हे देखते हुए यह भी एक महत्त्वपूर्ण घटना प्रतीत होती है। इतना स्पष्ट है कि कैम्ब्रिज मे रहते समय वह देश प्रेम की गहरी भावनाओं से ओतप्रोत हो चुके थे और विदेशी आधिपत्य से जन्मभूमि को मुक्त कराने के लिए अपना जीवन समर्पित करने की अभिलाषा उनके मन मे जागृत हो चुकी थी। यह ठीक है कि उस समय यह प्रेरणा केवल यूरोपीय थी। यह भी हो सकता है कि वे मेज़िनी के 'रिमारजिमेंटो' से प्रभावित हुए हों। उस समय के आइरिश देशभक्ति के प्रचण्ड आन्दोलन से वह अवश्य प्रभावित थे। यह तथ्य उनके भारत लौटने के बाद लिखे गए लेखों में ही नहीं बल्कि इग्लण्ड-प्रवास की अवधि मे लिखी गई उनकी आरम्भिक कविताओं मे भी स्पष्ट है।

कविता-लेखन मनुष्य का एक उदात्त कर्म ही माना जा सकता है। कविता सामान्यत हर प्रकार की सकुचित स्वार्थ भावना से मुक्त होती है और मानव मन की गहन और उत्कृष्ट प्रवृत्तियो को व्यक्त करती है। इसी कारण अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमो की तुलना मे कविता मनुष्य की अन्तरात्मा को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करती है और प्रबुद्ध पाठक को कवि की अन्तरात्मा के दर्शन करने का अवसर देती है। श्री अरविन्द बचपन से ही कविता लिखने लगे थे। यूरोपीय वातावरण और शिक्षा के कारण अनिवार्यत उनकी प्रारम्भिक कविताओं पर अन्तर्कथाओं और नामों की दृष्टि से प्राचीन ग्रीक और लैटिन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इग्लण्ड मे लिखी गई उनकी प्रारम्भिक कविताओं के सग्रह का नाम 'सांग्स टु मर्टिला' उपयुक्त ही है। ये कविताएँ प्राचीन साहित्यिक सन्दर्भों से भरी हैं, जो निश्चय ही ग्रीक और लैटिन से अनभिज्ञ भारतीय पाठक को

नही चाहते थे क्योकि घर वाले ऐसा न करने देते, अत उन्होने पिण्ड छुडाने की यह तरकीब निकाली कि घुडसवारी मे असफल हो गए।"[1]

अब हम उन राजनीतिक प्रभावो का विश्लेषण करेंगे जो इस प्रतिभाशाली युवक की प्रबुद्ध चेतना पर पडते रहे थे और जिन्होने बडे नाटकीय ढग से उनकी भावी जीवनधारा को ही बदल दिया था। उनके पिता ने श्री अरविन्द को सभी प्रकार के भारतीय प्रभावो से दूर रखने की अपनी इच्छा का कठिन पालन किया था, फिर भी यह स्पष्ट है कि भारत मे जब उन्होने डॉक्टर के रूप मे काम किया तब उनके मन से अग्रेजो का सारा मोह दूर हो गया। वास्तव मे वह अपने पुत्रो को 'द बगाली' नामक समाचार पत्र की कतरन भेजने लगे जिनमे वह ऐसे समाचारो पर निशान भी लगा देते थे जिनमे अग्रेजो द्वारा भारतीयो के प्रति किए गए दुर्व्यवहार और अपमान के विवरण होते थे। अपने पत्रो मे ब्रिटिश सरकार को हृदयहीन सरकार बताकर उसकी निन्दा किया करते थे और ऐसा लगता है कि इन पत्रो ने ही पहली बार श्री अरविन्द के ध्यान और रुचि को भारत की राजनीति की ओर मोडा। इस रुचि ने आगे बढकर उनमे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करने का विचार पैदा किया, यद्यपि वह अपने देश के विषय मे वस्तुत अनभिज्ञ ही थे। केम्ब्रिज पहुँचने पर 'इडियन मजलिस' नामक एक संस्था से उनका सम्पर्क हुआ था, जिसकी स्थापना १८६१ ई० मे हुई थी। मजलिस के कार्यक्रमो मे उन्होने सक्रिय भाग लिया और वह उसके मन्त्री भी बने।[2] अन्य अनेक गर्म-खून वाले युवको के साथ उन्होंने भी उसके वाद विवादो मे भाग लिया और ऐसा लगता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उन्होंने अनेक क्रान्तिकारी भाषण भी दिए। केम्ब्रिज के कुछ अधिक जोशीले भारतीय युवको ने एक गुप्त सस्था बनाई थी जिसका

---

[1]वही पृष्ठ १२। इस पूरी घटना का विस्तृत विवरण श्री अरविन्द्‌ऽ इन इग्लण्ड पृष्ठ ३७–३८ पर ए० बा० पुरानी ने दिया है।

[2]यह सस्था अब भी मौजूद है लेकिन लिखा-पढ़ी करने पर मालूम हुआ कि दुर्भाग्य से उसके पास श्री अरविन्द के उस समय के कोई अभिलेख या सभावृत्त प्राप्त नही है।

नाम 'द लोटस ऐण्ड डैगर' रखा गया था। श्री अरविन्द अपने भाइयो सहित इस सस्था मे सम्मिलित हो गए। प्रत्येक सदस्य ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए काम करने की सामान्य प्रतिज्ञा की। साथ ही इस ध्येय की प्राप्ति के लिए कोई विशिष्ट काम करने का भी दायित्व लिया। श्री अरविन्द ने इस सस्था को 'मृतभ्रूण' सज्ञा दी है, लेकिन भारत आने पर आगे चलकर गुप्त क्रान्तिकारी सस्थाओ के साथ उनके जितने घनिष्ठ सम्पर्क हुए, उन्हे देखते हुए यह भी एक महत्त्वपूर्ण घटना प्रतीत होती है। इतना स्पष्ट है कि केम्ब्रिज मे रहते समय वह देश प्रेम की गहरी भावनाओ से ओतप्रोत हो चुके थे और विदेशी आधिपत्य से जन्मभूमि को मुक्त कराने के लिए अपना जीवन समर्पित करने की अभिलाषा उनके मन मे जागृत हो चुकी थी। यह ठीक है कि उस समय यह प्रेरणा केवल यूरोपीय थी। यह भी हो सकता है कि वे मेजिनी के 'रिसोरजिमेटो' से प्रभावित हुए हो। उस समय वे आइरिश देशभक्ति के प्रचण्ड आन्दोलन से वह अवश्य प्रभावित थे। यह तथ्य उनके भारत लौटने के बाद लिखे गए लेखो मे ही नही बल्कि इग्लण्ड प्रवास की अवधि मे लिखी गई उनकी आरम्भिक कविताओ मे भी स्पष्ट है।

कविता लेखन मनुष्य का एक उदात्त कर्म ही माना जा सकता है। कविता सामान्यत हर प्रकार की सकुचित स्वार्थ-भावना से मुक्त होती है और मानव मन की गहन और उत्कृष्ट प्रवृत्तियो को व्यक्त करती है। इसी कारण अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमो की तुलना मे कविता मनुष्य की अन्तरात्मा को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करती है और प्रबुद्ध पाठक को कवि की अन्तरात्मा के दर्शन करने का अवसर देती है। श्री अरविन्द बचपन से ही कविता लिखने लगे थे। यूरोपीय वातावरण और शिक्षा के कारण अनिवार्यत उनकी प्रारम्भिक कविताओ पर अन्तर्कथाओ और नामो की दृष्टि से प्राचीन ग्रीक और लैटिन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इग्लण्ड मे लिखी गई उनकी प्रारम्भिक कविताओ के सग्रह का नाम 'सान्ग्स टु मर्टिला' उपयुक्त ही है। ये कविताएँ प्राचीन साहित्यिक सन्दर्भों से भरी है, जो निश्चय ही ग्रीक और लटिन मे अनभिज्ञ भारतीय पाठक को

कुछ विदेशी और अपरिचित लगते ह । फिर भी ये कविताए महत्त्व पूण ह क्योकि ये श्री अरविन्द की असाधारण साहित्यिक योग्यता का ही नही, वल्कि उनके तीव्र दश प्रेम का भी परिचय दती ह । सन १८६१ म आयरलण्ड के महान राष्ट्रीय नता पारनेल की मत्यु हुई तो श्री अरविन्द न 'चार्ल्स स्टीवर्ट पारनल—१८६१ शीर्षक एक कविता लिखी

तुम मद पर उज्ज्वल प्रकाशमय, तारक हो
स्वय रक्षा भ्रष्ट भी सब के उद्धारक हो
देखा वह शासक व द डरता है तुम से
घृणा भी सर्वाधिक करता है तुम से
घृणा भी इसलिए कि डरता है तुमसे
कर म करवाल लिए एक ही वार म
करत हो शिरच्छिन्न तीक्ष्ण तलवार म
पीडामयी भूमि से तुम मे थे जन म
पर व्यथ ही पीडित हुए तब नह मन म ।

उनका दश प्रेम इसम भी अधिक स्पष्ट श दो म उनकी कविता हिक जसट—ग्लासनेविन सिमिट्री की निम्नलिखित पक्तियो म व्यक्त हुआ है । भारत माता की आराधना की उनकी भावी कल्पना का पूर्वाभास भी इन पक्तियो मे देखा जा सकता है । आयरलण्ड के देश भक्तो का सम्बोधित करत हुए वह कहत ह

दश प्रेमियो ! अपन वीरो का देखो
इस आदमी न अपनी रक्त रजित, अपमानित माता का छुरे क
 द्वारा देखा,
विश्राम के परे नगी गरीब निराधार जबकि विदेशी मानिको न
 अहल्या क साथ उसक घर को म लिया
अब उसको देखो भयानक फिर भी गौरवमयी
जिसके माथा म निम्बो क फूल है
जो गरजती आँधी मे मजी है
ऐसी ही वह सुन्दे है

विदेशी शासकों द्वारा पद दलित, रक्तरंजित और शृंखलाबद्ध भारत माता की दशा को देखकर उत्पन्न होने वाले दुःख की एक पूर्व कल्पना के रूप में ये पंक्तियां चित्रित हैं। इनमें भारत के पुनरुद्धार और दास्य मुक्ति की भावी कल्पना का भी पूर्वाभास है। 'वन्दे मातरम्' और 'कर्मयोगिन' के पृष्ठों में कोई एक दशाब्द के बाद इन्हीं भावनाओं को उन्होंने अद्वितीय वाग्वदग्ध्य के साथ व्यक्त किया था। भारत लौटने के तीन वर्ष बाद सन् १८९६ में, उन्होंने 'लाइन्स टु आयरलैण्ड' नामक एक लम्बी कविता लिखी। उसमें भी उस गहरे प्रभाव की अभिव्यक्ति है जो श्री अरविन्द के मन पर आयरलैण्ड के राष्ट्रीय आन्दोलन ने डाला था।

आई०सी०एस० के जिस पद के प्रति श्री अरविन्द का रंचमात्र भी आकर्षण नहीं था, उसके लिए अपने आपको अयोग्य घोषित करवाने के बाद वह अपनी मातृभूमि वापस आने के विषय में गम्भीरता से विचार करने लगे। जीवन के सबसे अधिक रचनात्मक काल—सात वर्ष की आयु में इक्कीस वर्ष तक की आयु की चौदह वर्ष की अवधि—में जन्मभूमि से दूर रहने पर भी भारत की रहस्यमयी शक्ति का प्रभाव श्री अरविन्द पर निरंतर पड़ता रहा था। भारत लौटने का सुअवसर भी उन्हें जल्दी ही प्राप्त हो गया। बड़ौदा के स्वर्गीय महाराजा सयाजी राव गायकवाड़ इंग्लैण्ड गए हुए थे। वह भारत के राजाओं में सर्वाधिक प्रबुद्ध और प्रतिभासम्पन्न राजा थे और अपने कर्मचारियों का सावधानी और विवेक से चुनाव करने के लिए प्रसिद्ध थे। वस्तुतः इसी कारण बड़ौदा भारत का एक सुशासित देशी राज्य था। जब उन्होंने सर हेनरी कॉटन के पुत्र श्री जेम्स कॉटन से सुना कि एक सुयोग्य और उत्साही युवक नौकरी की खोज में है तब वह उसी समय उसे रखने को तैयार हो गए। महाराजा ने श्री अरविन्द का इन्टरव्यू लिया और परिणामस्वरूप श्री अरविन्द बड़ौदा राज्य की सेवा में ले लिए गए। फरवरी १८९३ में उन्होंने भारत के लिए प्रस्थान किया।

इस तरह श्री अरविन्द के जीवन का एक अध्याय समाप्त और दूसरा आरम्भ हुआ। दूसरा अध्याय जो उनको आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का जाज्वल्यमान अग्रदूत बनाने और भारत की राजनीति के बीच

भँवर म डाल देने का कारण बना। भारत लौटने से पहले की उनकी उपलब्धिया पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा। चौदह वप इग्लण्ड मे बिताकर वह दो महानतम जीवित यूरोपीय भाषाओ—अग्रेजी और फ्रच—मे प्रवीण हो चुके थे। जमन और लटिन से भी उनका थोडा परिचय हो गया था। वह उत्कृष्ट कोटि के साहित्य सजन की योग्यता का परिचय भी दे चुके थे। इन उपलब्धिया के अतिरिक्त वह प्रभूत काव्य प्रतिभा भी व्यक्त कर चुके थे और राष्ट्रीय भावना स, विशेषकर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आयरलण्ड के आदोलन स, बहुत प्रभावित हो चुके थे। देश प्रेम की ज्वाला उनके मन मे धधक रही थी और उसके फलस्वरूप जन्मभूमि की मुक्ति के लिए प्रयत्न करने का सकल्प भी वह कर चुके थे। श्री अरविंद को आधुनिक भारत के इतिहास के सवश्रेष्ठ राजनीतिक महापुरुषा की पक्ति मे अग्रणी स्थान पर खडा करने के लिए आवश्यक बौद्धिक नपुण्य, कलात्मक भाव-बोध और देशभक्ति के भावावेश का असाधारण समन्वय उनमें था ही, आवश्यकता थी केवल भारत के उस गहन आध्यात्मिक प्रभाव की, भारत के उस अध्यात्म की जिसकी दार्शनिकता और सस्कृति की परम्परा इतिहास के आरम्भ काल से अविच्छिन्न रही है।

अध्याय ४

# सन् १८९३ मे भारत को वापसी   बडौदा काल

चौदह साल विदेश मे रह कर सन् १८९३ मे श्री अरविन्द भारत लौट आए और नौकरी करने बडौदा पहुँचे। वह सन् १९०७ तक, लगातार तेरह वष, वहाँ नौकरी करते रहे, हालाकि वाद के वर्षो मे राष्ट्रीय गतिविधियो मे भाग लेने के लिए वह लम्बी-लम्बी छुट्टियाँ लेते रहे थे। अत मे राष्ट्रीय घटनाओ के दवाव ने उनको त्यागपत्र देने के लिए वाध्य कर दिया और वह बगाल की सक्रिय राजनीति मे कूद पडे। उस समय सन् १९०५ मे लॉड कजन द्वारा किए गए बग भग के कारण बगाल म वडा विक्षोभ था। इस प्रकार सन् १८९३ से १९०५ ई० तक की कालावधि को श्री अरविन्द के सक्षिप्त, किन्तु आश्चयजनक राजनीतिक जीवन की तैयारी की अवधि समझना चाहिए। उनका राजनीतिक जीवन सन् १९१० ई० मे उसी नाटकीय ढग मे समाप्त हो गया जिस ढग से उसका आरम्भ हुआ था। वडौदा म रहते हुए उनके राजनीतिक विचारो का जो प्रारम्भिक विकास हुआ था, उसी की चर्चा इस अध्याय मे की जाएगी।

वडौदा राज्य की नौकरी मे आने पर उन्हें सवप्रथम सेटलमेंट विभाग मे रखा गया था, ताकि वह उस विभाग के काम के विभिन्न पहलुआ से परिचित हो सकें। इसके वाद वह स्टैम्प और राजस्व विभाग मे रहे। फिर राजनयिक पत्रो और वैसे ही अन्य प्रलेखो के प्रारूप तैयार करने के लिए सचिवालय मे नियुक्त किए गए। तव उन्हे अध्यापन का अवसर भी मिला। सप्ताह मे कुछ घटे फ्रच भाषा पढाने के लिए उनकी सेवाएँ वडौदा कॉलेज को दी गई। वाद मे कॉलेज के दूसरे काम भी उनको सौंपे जाते रहे और अन्त मे प्रिंसिपल ने उनको अग्रेजी का स्थायी प्रोफेसर वनाने का

इस तरह बौद्धिक सम्बल से सम्पन्न होने के कारण उन्हें भारतीय दर्शन और साहित्य के अध्ययन में बड़ी सहायता मिली और थोड़े ही समय में वह भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पढ़ने लग गए। उन्होंने बँगला भी सीख ली और वह बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी और आधुनिक बंगला काव्य के अग्रनायक माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाओं से बहुत प्रभावित हुए।[1]

पाश्चात्य बौद्धिक परम्परा में पहले से ही रंगे श्री अरविन्द के मन पर भारतीय दर्शन के मूल स्रोत के अध्ययन का गहरा असर पड़ा। प्राचीन उत्कृष्ट हिन्दू वाङमय का सन्देश बुद्धि की ऊपरी परतों तक रह जाने वाला मात्र नहीं है। वह तो मनुष्य के अस्तित्व की गहराई तक, उसके अन्तरतम तक पहुँचने वाला सन्देश है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री अरविन्द पर ऐसा ही प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि उनकी परवर्ती रचनाओं से प्रकट है कि यह प्रभाव बौद्धिक स्तर से बहुत गहरा पहुँच चुका था। हिन्दू दर्शन का सार है सर्वव्यापी आध्यात्मिक सत्ता की प्राप्ति और अनुभूति सक्रिय और सचेतन रूप से होनी चाहिए। दर्शन शास्त्र के विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र करना निरर्थक और निस्सार है। इसलिए हिन्दू धर्म के सभी विचारशील विद्यार्थी आध्यात्मिक साधना का मार्ग अपनाने को बाध्य हो जाते हैं। साधना की अनेक प्रणालियाँ हैं

---

[1]सन १८९४ ई० में इन्दुप्रकाश में बंकिम चटर्जी पर प्रकाशित अपने सात लेखों में उन्होंने उस प्रसिद्ध उपन्यासकार को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और प्रसंगवश महान कवि दत्त के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है। इन लेखमाला को समाप्त करते हुए वह लिखते हैं

जब भावी सन्तानें स्तुति-गाना से भारत के निर्माताओं का अभिषेक करेंगी तब वे अपना सबसे सुन्दर मुकुट किसी पदलोलुप राजनीतिज्ञ के स्वर्ण सिक्त मस्तक पर नहीं रखेंगी न किसी बटवाल समाज सुधारक के छोटे से सिर पर ही रखेंगी। वह तो उस उदात्त बंगाली लेखक (बंकिम) के शान्त मस्तक पर रखा जाएगा जिसने कभी पद या अधिकार के लिए आवाज नहीं उठाई बस प्रकृति की तरह चुपचाप काम के प्रति प्रेम के कारण अपना काम किया जिसका ध्येय केवल यह था कि मेरे पास समर्पित करने को जो कुछ है वह सब दे दूँ। वे एक भाषा एक साहित्य और एक राष्ट्र का सृजन करने में सफल हुए।

जिनम मे किसी एक को चुना जा सकता है। साधना का मार्ग वह इस आशा मे अपनाता है कि उसका बौद्धिक ज्ञान सत्य की स्वर्णिम उपलब्धि म परिणत हो सकेगा। श्री अरविन्द के सम्बध म भी यह प्रक्रिया बिलकुल स्पष्ट है। हिन्दू प्राचीन साहित्य के अध्ययन न सन १६०४[1] म उनको आध्यात्मिक साधना की ओर प्रेरित किया। इसस धम के प्रति उनकी अभिरुचि और भी दढ हो गई।

## श्री अरविन्द की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ

श्री अरविन्द की जीवनिया[2] में विदित होता है कि सन् १८६३ ई० म बम्बई म 'कार्थेज' नामक जहाज से उतरते ही उन्हें पहली सुस्पष्ट आध्यात्मिक अनुभूति हुई। चौदह वष बाद अपने देश की धरती पर पर रखते ही उनको एक अनन्त शान्ति का अनुभव हुआ। इसके बाद सन १६०१ ई० म एक बार गाडी चलाते समय उन्हें ऐसा लगा जैसे कि उनके शरीर मे कोई दिव्य आकृति बाहर आई और उसन गाडी को दुघटना मे बचा लिया। सन् १६०३ ई० मे कश्मीर की यात्रा के समय शकराचाय पवत पर घूमते समय उन्हें एक और विलक्षण आध्यात्मिक अनुभूति हुई जिसमे उनको लगा कि मैं 'शून्य निस्सीम' मे विचरण कर रहा हूँ। यहाँ इन अनुभूतिया की वस्तुनिष्ठ सत्यता पर विचार करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये अनुभूतियाँ उनके लिए सत्य थी और यहाँ इनका उल्लेख यह बताने के लिए किया गया है कि बडौदा म रहते समय भी आध्यात्मिक पहलू श्री अरविन्द के लिए बहुत महत्त्वपूण बन चुका था।

श्री अरविन्द न पहले इन अनुभूतिया का सम्बध योग से नही जोडा था, जब उनके मित्र श्री के० जी० देशपाण्डे ने योग का अभ्यास करने को कहा, तब वस्तुत उन्होन ऐसा करन से इनकार भी कर दिया था। किन्तु धीरे धीरे इस आह्वान की तीव्रता बढती गई और

[1] ऑन हिमसेल्फ ऐण्ड द मदर पृ० ३७।

[2] उदाहरणत 'महायोगी श्री आर० आर० दिवाकर।

इतनी बढ़ी कि वह इसका प्रतिरोध नहीं कर सके।[1] अपने योग्य कोई गुरु तो उन्हें न मिला पर फिर भी उन्होंने अनेक व्यक्तियों से प्रेरणा ली और बाद में ग्वालियर के श्री लेले से उन्हें कुछ ठोस मार्गदर्शन मिला।[2] इस तरह बड़ौदा में उनका जीवन दो परस्पर अनुपूरक धाराओं में बहता रहा, एक थी उनकी प्रत्यक्ष सरकारी सेवा और तद्विषयक गतिविधियों की धारा और दूसरी थी उनकी अगाधतर और अधिक आधारभूत आध्यात्मिक धारा जो ऊपर से अदृश्य होने पर भी बहुत वेगवती थी और जिसने उनके सामान्य जीवन-दर्शन और राजनीतिक विचार सरिता दोनों को ही एक नया मोड़ दे दिया।

श्री अरविन्द ने अपनी पहली राजनीतिक रचनाएँ न्यू लैम्प्स

---

[1] ३० अगस्त १९०५ को पत्नी को लिखे गए एक पत्र का अंश इसको स्पष्ट करता है

चाहे किसी भी मार्ग से सम्भव हो पर मुझे ईश्वर का साक्षात्कार अवश्य करना है। *यदि ईश्वर है तो उसमें आध्यात्मिक सम्पर्क जोड़ने के लिए कोई* मार्ग जरूर होगा। वह मार्ग कठिन और जटिल कठिनाइयों से भरा हो तब भी मैंने उस मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। हिन्दू धर्म कहता है कि वह मार्ग अपने ही शरीर में अपनी ही आत्मा में विद्यमान है। मैं उस मार्ग पर चलने के लिए विहित नियमों का पालन कर रहा हूँ। एक मास की अवधि में ही मुझे प्रतीत होने लगा है कि हिन्दू धर्म का कथन असत्य नहीं है। हिन्दू धर्म में बताए भगवत् प्रत्यक्ष के सभी लक्षणों का अनुभव करने लगा हूँ। अब मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हें भी उस मार्ग पर ले चलूँ।

[2] कांग्रेस सम्मेलन के बाद सन १९०७ में श्री अरविन्द की विष्णु प्रभाकर लेले से भेंट हुई। उनके भाई बारीन्द्र ने लिखा है कि लेले बलि और आग के मार्ग में संस्कार करने के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे (बारीन्द्र कुमार घोष का आत्म चरित पृ० ४० देखिए)। बारीन्द्र ने लिखा है कि श्री अरविन्द सन १९०६ में स्वामी ब्रह्मानन्द से मिलने गए। स्वामी नर्मदा के किनारे चाँदा में रहते थे। बारीन्द्र ने आगे लिखा है कि स्वामी ने श्री अरविन्द को आते देखा और श्री अरविन्द को आध्यात्मिक अनुभूति हुई। वह लिखते हैं यही वह प्रथम आध्यात्मिक स्पर्श होगा जिसने दैवयोग से आगे चलकर श्री अरविन्द के समक्ष परम सत्य का उद्घाटन किया।

फॉर आल्ड (पुरान दीपा के बदले नये दीप)' शीषक से सन् १८६३ ई० मे लिखनी शुरू की। ये लेख उन्होन अपने केम्ब्रिज के मित्र श्री के०जी० देशपाण्ड के अनुराध पर, जो 'इन्दु प्रकाश' नामक आग्ल-मराठी ममाचारपत्र के अंग्रेजी खण्ड का सम्पादन करते थे, लिखे थे। इस लेखमाला के पहले दो लेखा न प्रबुद्ध पाठक वग मे एक सनसनी फैला दी, क्याकि इनम भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की नीतियो पर सीधा, तीक्ष्ण आर खुलकर प्रहार और सदियो की जडता का फक्कर अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करन के लिए देशवासियो का आह्वान किया गया था। कहा जाता है कि महान उदारपथी नता महादेव गोविन्द रानडे न 'इन्दु प्रकाश' के मालिक का आगाह किया था कि यदि यह लेखमाला इसी स्वर म जारी रही तो उन पर राजद्रोह का अभियोग चलाया जा सकता है। 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' की मूल योजना पत्र के मालिक के आदेश पर बन्द करनी पडी। किन्तु सम्पादक ने श्री अरविन्द से लेखमाला को कुछ बदले हुए स्वर मे चालू रखने का कहा। यह प्रस्ताव उन्होंने अनिच्छापूवक स्वीकार किया और कुल मिलाकर ग्यारह लेख लिखे, जिनमे अन्तिम लेख ६ मार्च १८६४ का था।[1] सरकारी नौकरी म होने के कारण वह अपने लेखो को अपने नाम से नही छपवा सकते थे। इसलिए उनके लेख अज्ञात नाम से प्रकाशित हुए थे। उन्होंने 'इन्दु प्रकाश' म १६ जुलाई से २७ अगस्त १८६४ तक की अवधि म बकिम चटर्जी' पर अज्ञात नाम से सात लेख प्रकाशित कराए थे। बडौदा के निवास काल मे उनकी मन स्थिति पर प्रकाश डालने की दृष्टि से ये लेख बहुत महत्त्व के हैं।

---

[1]यह शीषक भारतीय सभ्यता से सम्बन्धित नही है काग्रेस की राजनीति से सम्बन्धित है। इस लेख का चिराग अलादीन का चिराग नही है। इसका तो उद्देश्य काग्रेस के पुराने और अस्पष्ट सुधारात्मक प्रकाश के बदले नए प्रकाश को लाना है। ऑन हिमसेल्फ ऐण्ड द मदर, पृ० २७।

प्रो० हरिदास मुखर्जी और प्रो० उमा मुखर्जी की पुस्तक श्री अरविन्दाज पॉलिटिकल थॉट (पृ० ६१-१२३) म नौ लेख प्रकाशित हैं। नावें और दसवें लेखा का अभी भी पता नही है।

[2]बकिम चटर्जी शीषक से श्री अरविन्द आश्रम पाडिचेरी म प्रकाशित।

'इन्दु प्रकाश' के उनके लेखों के सम्यक अध्ययन और अन्य साक्ष्यों में उनके राजनीतिक विचारों के तीन रूप प्रत्यक्ष होते हैं — *कांग्रेस के आलोचक का रूप, अंग्रेजों के आलोचक का रूप,* और उनके अपने राजनीतिक कार्यक्रम का स्पष्ट रूप। उनके आरम्भ काल के विचारों में उनकी बाद की विस्तृत विचारधारा का बीज निहित है, इसलिए उनकी चर्चा सविस्तार करना समीचीन होगा।

## श्री अरविन्द—कांग्रेस के आलोचक

सन १८६३ में राजनीतिक विषयों पर अपनी लेखनी उठाने से लेकर सन १९१० में सक्रिय राजनीति से संन्यास लेने तक श्री अरविन्द कांग्रेस के कटु आलोचक रहे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इस संगठन की स्थापना ने उन्हें आरम्भ में पुलकित नहीं किया था। अपने पहले ही लेख[1] में उसके बारे में वह लिखते हैं 'प्रारम्भिक अवस्था की उत्साह भरी आशाओं का चित्रण हम किन रंगों में करें? उन अद्भुत उमंगों के वासन्तिक वैभव का निरूपण किस तूलिका से किया जाए? हम तो कांग्रेस में समग्र गरिमा, उदात्तता और पावनता के दर्शन होते थे जिनके प्रति हृदय आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। हमारे लिए निराशा की विशाल मरुभूमि में कांग्रेस ही आशा के शीतल जल की निर्मल पुष्करिणी थी। वह स्वातन्त्र्य संग्राम का अभियान ध्वज थी, समन्वय का पावन प्रयागराज थी, जिसमें विभिन्न जाति सरिताएँ आकर एकाकार हो गई थीं, पर ये सब आशा-सरिताएँ मृगतृष्णाएँ सिद्ध हुई।' श्री अरविन्द ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में कांग्रेस पर कम-से-कम चार सुस्पष्ट आरोप लगाए।

सबसे पहले उन्हें लगा कि कांग्रेस ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य लक्ष्य की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं बनाई है। वह अपना समय तुच्छ और सारहीन बातों में नष्ट करती है और परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकती। परिणाम यह हुआ है कि कांग्रेस अपनी स्थापना

---

[1] न्यू लैम्प्स फार ओल्ड, सं० १, इन्दु प्रकाश, ७ अगस्त १८६३।

के बाद केवल नगण्य से प्रशासनिक सुधार ही करवा सकी है। श्री अरविन्द की दृष्टि में यह तो केवल जाल मात्र है। वह लिखते है 'मुझे काग्रेस के बारे में यह कहना है कि उसके लक्ष्य भ्रान्त है, उनकी सिद्धि के लिए जिस भावना से वह कार्य करती है वह निष्कपट और हार्दिक नही है, उसने जो साधन अपनाए है वे उपयुक्त साधन नही है, जिन नेताओं में उनका विश्वास है वे सुयोग्य नेता नही है—सार यह है कि हम इस समय यदि 'अन्धे नैन नीयमाना यथान्धा[1]' नही है तो भी 'काणेनव नीयमान' तो है ही।'

श्री अरविन्द का दूसरा आरोप यह था कि काग्रेस ने अपनी ही आगे छोटी छोटी मांगो को मनवाने के लिए अग्रेजो के प्रति स्वाभिमान पूर्ण व्यवहार नही किया। राष्ट्र की अन्तर्निहित शक्ति पर विश्वास रखने के स्थान पर उसने चापलूसी से विदेशी शासको की प्रीति को पाना चाहा। वह कहते है 'ब्रिटिश शासन की गरिमा के अनावश्यक गीत गाए गए है, और उस विधाता का भी व्यर्थ गौरवगान किया गया है जिसने हमको उदार और न्यायपरायण इंग्लैण्ड माता की नही, विमाता की गोद में सौप दिया था। लेकिन इससे भी अधिक भयानक बात यह है कि काग्रेस की नस-नस में भीरुता है, वह कठोर सत्य के उद्घाटन से कतराती है, सीधी-सच्ची बात कहने में हिचकिचाती है और सदा भयभीत रहती है कि शासक रुष्ट न हो जाएँ।'[3]

तीसरे, उन्होने काग्रेस के उस सिद्धान्त की भी कटी आलोचना की जिसके अनुसार क्रमश राजनीतिक विकास शाश्वत और सार्वभौम नियम है, अर्थात प्रगति शनै शनै व्याप्त होती है और इसलिए उस नियम का अनुसरण भारत मे भी अवश्य करना होगा। ऐतिहासिक विश्लेपण का साम्य प्रस्तुत करते हुए उन्होने बताया कि फ्रास, आयरलैण्ड और अनेक दूसरे देशो में ऐसा नही

---

[1] 'न्यू लैम्प्स फार ओल्ड' स० ३ इन्दु प्रकाश २८ अगस्त १८९३।

[2] बंकिम विषयक एक लेख में उन्होने व्यग से इस संगठन को भारतीय अराष्ट्रीय काग्रेस बताया है। बकिम चटर्जी पृ० ४६।

[3] 'न्यू लैम्प्स फार ओल्ड' स० ४ इन्दु प्रकाश ७ अगस्त १८९३।

हुआ है। उन्होंने लिखा है कि प्रगति की दिशा में भाग्यशाली देश फ्रांस की उन्नति या समारम्भ शालीनता और शान्ति की प्रक्रिया में नहीं हुआ। वह संस्कार तो रक्तपात और अग्निकांड की सहायता से बल्कि वज्रदंड से हुआ। सदियों से सहानुभूतिहीनता के शिकार बने कोटि-कोटि ज्ञानहीन सर्वहारा वर्ग के लिए यह सम्भव हो सका कि उसने केवल पांच वर्ष की अवधि में तेरह सौ वर्ष के अत्याचारी तन्त्र का मूलोच्छेद कर दिया। भद्र नागरिकों के सम्मेलन के वश का यह काम नहीं था।[1]

लेकिन, शायद कांग्रेस पर श्री अरविन्द का सबसे बड़ा आरोप यह था कि भारत के कोटि-कोटि सर्वहारा वर्ग को एकत्र कर उनकी सहायता लेने के स्थान पर वह अत्यन्त सीमित मध्यवर्गीय संगठन बना हुआ है, या उन्हीं के शब्दों में 'वह मध्यवर्गीय संगठन है जो सार्वजनिक कामों में निःस्वार्थ और निश्छल नहीं है और जिसके व्यापक और निस्वार्थ देश प्रेम के दावे खोखले हैं।'[2] उनको इस बात का दुःख था कि कांग्रेस अब तक अपने सम्मुख उपस्थित अवसरों का सदुपयोग करने में असफल रही है। इसके लिए उन्होंने कांग्रेस के नेताओं की भारी भर्त्सना की। भारत के श्रमिक वर्ग को शामिल कर राष्ट्रीय आन्दोलन को एक सार्वजनिक आन्दोलन बना डालने की जरूरत को उन्होंने कितना समझा था, इसका पता उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियों से मिलेगा। इन में बड़ा तीखा व्यंग भी है

---

[1] वही सं० ४ इंदुप्रकाश १८ सितम्बर १८९३।

[2] सर फीरोजशाह मेहता का सन् १९०० का कांग्रेस में दिया गया भाषण इस बात का उदाहरण है कि आम जनता के प्रति उदारपंथी नेता कैसा उपेक्षापूर्ण और बड़ेरा जैसा रुख अपनाते थे और श्री अरविन्द ने जिसकी बड़ी आलोचना की थी।

जनता निश्चित राजनीतिक मांगों को प्रकट करने में समर्थ होती तो परामर्श-समितियों के स्थान पर प्रतिनिधि संस्थाएं ही होतीं किन्तु ऐसा नहीं हो पाया है इसलिए उनके शिक्षित और प्रबुद्ध साथियों का दायित्व है कि वे उनके कष्टों को समझें अनुभव करें और सुलझाएं। वही सं० ७ इंदुप्रकाश ४ सितम्बर १८९३।

और इस बात का गहरा एहसास भी कि जनसामान्य मे जागृति पैदा करना और राष्ट्रीय आन्दोलन मे उसे सम्मिलित करना अत्यधिक आवश्यक है ' थी फीरोजशाह ने अपनी सौम्य, मयत और सुसीमित देशभक्ति और सहज महृदयता के अनुरूप हमका आश्वस्त करना चाहा है कि अज्ञान और दुरवस्थाग्रस्त जनसाधारण के जागरण का प्रयत्न बिलकुल अनावश्यक है और उस दिशा म किसी भी प्रकार का शक्ति व्यय नितान्त असामयिक है, परन्तु अब क्योकि मध्यवर्गीय लोग सत्यनिष्ठा, भक्ति और निणय-क्षमता मे असमथ सिद्ध हो चुके है, अत चाहे या अनचाहे, हमारी आशाओ का एक मात्र आधार, हमारी आकाक्षाओ का भावी सम्बल वही प्रतिपादित और अशिक्षित सवहारा वग ही रह गया है। थोथे सिद्धान्तवादी कहे जान का जोखिम उठाकर भी मैं पूरी शक्ति से यह अवश्य कहूँगा कि हमारा सर्वोपरि और पावनतम कत्तव्य उसी वग का उद्धार और प्रबोधन है।"[1] पुनश्च

'इसके अलावा, जसा कि मैंने समझान की कोशिश की है, सवहारा वग के पास ही इस परिस्थिति की कुजी है। वह निश्चल और निष्क्रिय है, उसम कोई वास्तविक शक्ति नही प्रतीत हाती, किन्तु फिर भी उसकी अन्तर्निहित शक्ति परम प्रबल है और जा भी उसकी इस शक्ति का समझने और उसका सदुपयोग करन म सफल होगा वही वस्तुत भविष्य का सवशक्तिमान नेता बनेगा। हमारी स्थिति निस्सन्देह जटिल और मानवीय बुद्धि के लिए कल्पनातीत है। लेकिन उसमे एक बात साफ है। वह यह कि अभिजात वग के लिए सही और फलप्रद नीति एक ही हा सकती है और उसी के अन्त मे सफल होन की सम्भावना है। वह नीति है अभिजात वग अपने हित का सवहारा वग के न्यायपूण व्यवस्थापन पर आधारित करे। उसका जागना हागा और देश की सम्पूण शक्ति का सगठन करना होगा और इस तरह सामाजिक और राजनीतिक सर्वोच्चता प्राप्त करन के लिए अपनी शक्ति और महत्ता को अन्त मे मिटा देना हागा।"[2]

---

[1] वही, स० ७ इन्दु प्रकाश ४ दिसम्बर १८९०।
[2] वही, स० ११ इन्दु प्रकाश ६ माच १८९४।

यह सुस्पष्ट घोषणा इस कारण से विशेष महत्त्वपूर्ण है कि कुछ वर्षों बाद उग्रवादी दल की मुख्य उपलब्धि सचमुच यही थी कि उसने जनसाधारण में स्वतंत्रता की भावना जगाई और पहली बार राष्ट्रीय आन्दोलन को सार्वजनिक रूप प्रदान किया।

## श्री अरविन्द—अंग्रेजों के आलोचक

*भारत के राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लेने वाला हर व्यक्ति* विदेशी शासकों का आलोचक अवश्य रहा होगा। किन्तु श्री अरविन्द के आगमन तक यह आलोचना परोक्ष, मूक और गूढ़ भाषा में निबद्ध होती थी ताकि अंग्रेजों का कोपभाजन न बनना पड़े। इन्दु प्रकाश में प्रकाशित श्री अरविन्द के लेख उस प्रचलित परम्परा से बिलकुल भिन्न कोटि के थे और उनमें अंग्रेजी सत्ताधारियों पर सीधा और प्रबल प्रहार था। इस प्रहार से देश में काफी सनसनी पैदा हो गई। स्पष्ट है कि उन्होंने ऐसा दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया था। एक उद्देश्य था देश में ब्रिटिश विरोधी भावना को उत्तेजित करना और दूसरा अंग्रेजों की श्रेष्ठता के विषय में फैली हुई इस भ्रान्त धारणा को निर्मूल करना कि अंग्रेज देवतुल्य हैं और उनकी गरिमा अक्षुण्ण है।

श्री अरविन्द की आलोचना के दो पक्ष थे। पहला था विशद ऐतिहासिक विश्लेषण जिसके द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था-पद्धति और प्रणाली पश्चिम की सर्वोत्तम देन नहीं मानी जा सकती। उन्होंने भारत में पाश्चात्य विचारों, प्रणालियों और संस्कृति का अपमान की जरूरत तो मानी किन्तु वह इस बात पर डटे रहे कि भारत को पश्चिम की विचार-पद्धतियों और व्यवस्थाओं के सर्वोत्तम अंशों का ही ग्रहण करना चाहिए न कि हर उस वस्तु को जिसे ब्रिटेन उससे गले उतारना चाहे। इससे आनुषंगिक रूप से यह भी व्यक्त होता है कि भारत के राष्ट्रीय विकास के विषय में श्री अरविन्द किसी भी प्रकार रूढ़िवादी या संकुचित दृष्टि वाले पुनरुद्धारक मात्र न थे। उन्होंने कई हृदयस्पर्शी विश्लेषण प्रस्तुत किए जिनमें अंग्रेजों की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था की तुलना यूरोप की व्यवस्थाओं,

विशेषकर फ्रास की व्यवस्था, म की थी । वह फ्रास की व्यवस्था की इस कमजोरी को मानते थे कि वह दृढ और स्थायी राजनीतिक सस्थापना को जन्म देने मे असमर्थ है पर साथ ही यह भी समझते थे कि इगलण्ड की व्यवस्था मे केवल सस्थावाद पर जोर है तथा सामाजिक स्वतन्त्रता और समानता जैसे प्रमुख तत्त्वो की उपेक्षा है । उन्होने इस विश्लेषण का समापन या किया

'हम भारतीय, कम से कम सब प्रकार के प्रगतिशील आन्दोलनो म अग्रणी रहने वाली भारतीय जातियाँ, ऐंग्लो-सक्सन जाति की अपेक्षा फ्रास और अथीनिया जाति के अधिक निकट है, किन्तु सयोगवश हमे ब्रिटिश आधिपत्य मे रहना पडा है जिसके फलस्वरूप हमारे मनीषियो की चिन्तनधारा म अग्रेजी स्रोतो का विचार जल ही अधिक प्रवाहित हुआ है। इसलिए अपनी स्वाभाविक मन स्थिति और तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुरूप राजनीतिक विचारो के परिधान का स्वीकार करने के स्थान पर वे अग्रेज शासको की जीर्ण शीर्ण विचार रूपी वेशभूषा के व्यामोह मे ही पडे है।"[1]

सुस्पष्ट ऐतिहासिक विश्लेषण पर आधारित ब्रिटिशो की यह मौलिक समाजशास्त्रीय आलोचना भारत के तत्कालीन परिवेश के लिए नई थी। इसलिए देश के अग्रेजी शिक्षाप्राप्त बुद्धिजीवियो पर उसका गहरा प्रभाव पडा।

श्री अरविन्द की आलोचना का दूसरा और अधिक स्पष्ट प्रहार भारत मे अग्रेजो की नीतियो और अग्रेज अफसरो के व्यवहार पर था। अग्रेजो की नीतियो ने भारत की आत्मा को कुठित कर रखा था, उसके विकास की अन्त शक्तियो को कुचल दिया था और आर्थिक दृष्टि से सर्वनाश कर दिया था। यह बात उनकी सभी रचनाओ म ध्वनित होती है, और प्राय स्पष्ट रूप से अभिहित भी की गई है। उदाहरण के लिए, उन्होने लिखा है ' दरिद्रता का काला भूत अपनी भयावह चादर इस भूमि पर अत्यधिक परिमाण म और

[1]वही स० ५ इन्दु प्रकाश ३० अक्तूबर १८६३।

अधिक निस्तार म तान हुए है।'' ब्रिटिश अफसरा के सम्बध म उन्हान निमम व्यग करत हुए लिखा है व अशिष्ट और धृष्ट है, उनका शासन दोषा म भरपूर है उनम किसी भी प्रकार की उदात्त भावना नही है और उनका व्यवहार गुलामा पर हुक्म चलान वाले जमीदारा जमा है। पर इस सबम मुझे आपत्ति नही। मुख्य ता केवल यह कहना है कि व बहुत ही साधारण इनसान ह जिन्ह अद्वितीय परिस्थितियाँ हाथ लग गई ह। व सचमुच साधारण काटि के मानव ह—साधारण काटि क मानव भी नही साधारण काटि के अग्रज ह जा अग्रजी की शब्दावली म 'फिलिस्तीन' ह। व ऐस मध्यवर्गीय इनसान ह जा फिलिस्तीन वग की विशषताओ—सकुचित हृदय और वणिक वृत्ति—स परिपूण ह।'

श्री अरविन्द अग्रजा द्वारा भारत म स्थापित शासन-पद्धति की आलाचना म भी उतन ही कठार ह। वह पद्धति उनकी राय म भारतीया क लिए सवथा अनुपयुक्त है। उदाहरण के लिए, शिक्षा प्रणाली क बार म लिखत हुए वह कहत ह

हमारी सावजनिक शिक्षा-पद्धति वास्तव म मनुष्यत्व की हत्या के लिए आविष्कृत ऐसा षड्यन्त्र है जिस मानव की विचारहीनता न अपनी दुष्टता क विशिष्टतम क्षणा म उत्पन्न किया था। यह मनुष्य क शरीर की ही हत्या नही करती, अपितु उसकी आत्मा का उसके अन्तरतम के जाज्वल्यमान उस व्यक्तित्व का भी हनन करती है जा मानव क नश्वर श्वास म कही अधिक पावन और बहुमूल्य है।''

ब्रिटिश सरकार क अधिकारिया और उनकी नीतिया की आलाचना करन क अतिरिक्त श्री अरविन्द न उन भारतीया का भी निमम मजाक उडाया है जा अग्रजा क दास बन गए थे। वह उस 'अग्रज बन बाबू' पर कटु व्यग करत हैं जा ऊँच पद पर बठकर कुछ क्षणा के लिए समझता है कि मैं सम्पूण पृथ्वी का शासक हूँ। वही बाबू

---

बन्द म 1 इन्दु प्रकाश 7 अगस्त 1893।
बन्द म० इन्दु प्रकाश 1 अगस्त 1893।
बन्द म० इन्दु प्रकाश 21 अगस्त 1893।

काग्रेस मे भापण देता है, वही विधान सभा के प्रश्नोत्तरो मे निहित गहन मूर्खता का परिहास करता है, वही महानगरपालिका का कुशासन का शिकार बनाकर हँसता है। आज के भारत मे चाहे उसका स्थान हो पर भावी भारत मे उसका कोई स्थान नहीं।'

## श्री अरविन्द का रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रम

अब तक हमने काग्रेस के नेताओ और अग्रेज शासको की तत्कालीन नीतियो के आलोचक के रूप मे श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धान्तो पर विचार किया है जो उनका ध्वसात्मक पक्ष था। अब हम उनके राजनीतिक सिद्धान्त के रचनात्मक पक्ष पर ध्यान देगे जो बडौदा निवास के प्रारम्भिक काल मे प्रकट होने लगा था। बाद मे, सन् १९०५ से १९१० ई० की अवधि मे जब उन्होने सक्रिय रूप से राजनीतिक सघर्ष मे भाग लिया तब अग्रेजो के विरुद्ध प्रयुक्त करने योग्य राजनीतिक कारवाइयो की पद्धति का सविस्तार विवेचन किया। बडौदा निवास की अवधि मे ही यह स्पष्ट हो गया था कि भावी नीति की सामान्य रूपरेखा उनके मन मे धीरे धीरे बन रही है। उनके विचारो के इस पहलू का अध्ययन दो दृष्टियो से हो सकता है—भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न के प्रति उनकी सैद्धान्तिक दृष्टि और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सुझाए गए ठोस उपाय।

उनका सैद्धान्तिक दृष्टिकोण सक्षेप मे यह था भारत का लक्ष्य ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्ण मुक्ति पाने का होना चाहिए, इस मुक्ति के लिए उसे अपने विदेशी शासको की कृपा और दया पर निर्भर नहीं रहना चाहिए बल्कि अपनी अन्त शक्ति और बल के असीम भण्डार का ही सहारा लेना चाहिए। उनके एक प्रारम्भिक लेख की निम्नलिखित पक्तियो से उनका आशय सुस्पष्ट है

'हमारा वास्तविक शत्रु बाहर की कोई शक्ति नही है। वह तो हमारी ही निरी मूर्खता, कायरता, स्वार्थपरता, पाखण्ड प्रियता और अन्धी भावुकता है। सच पूछिए तो मेरी समझ मे ही नही आता कि

'वही पृ० ४४–४५।

हम क्या आग्ल भारतीयो से इतना चिढते है और क्या उनके लिए तिरस्कार भरे अपशब्दो का प्रयोग करते है।[1] यदि वे ऐसे कानून का उल्लघन करने को उद्यत नही है जो उनकी रुचि के अनुकूल है तो उनसे लडना हमारी मूर्खता ही होगी। यदि हम अग्रेजो की झूठी और बनावटी चमक दमक से अभिभूत नही है तो हमे तत्काल मानना होगा कि ये लोग सचमुच हमारे कोप के भाजन नही है और यदि उन पर कुपित होना निरर्थक है तो हमारे बारे मे उनकी जो धारणा है उसको तिनके के बराबर मूल्य देना भी व्यर्थ है। हमको, हमारे उदात्त और स्वाभिमानी राष्ट्र को, हमारे विषय मे बनी एग्लो इडियन लोगो की धारणा की चिन्ता नही करनी चाहिए, और न अग्रेजो के न्याय विवेक से कुछ आशा ही करनी चाहिए। हमे तो अपना ही पौरुष जाग्रत करना होगा और भारत के मूक और पीडित जन जन के प्रति साहचर्य की सच्ची भावना उत्पन्न करनी होगी। मुझे विश्वास है कि अन्त मे हमारा उदात्त रूप विजयी होगा परन्तु तभी जब हम निहित स्वार्थ लाभ की चिन्ता छोड देंगे, सच्चे और महान देशप्रेम को अपना लेंगे, जब हम अग्रेजो के फेंके हुए टुकडो के लिए तरसना छोड देंगे तभी जाकर हममे उस पौरुष और सच्चे साहचर्य के भाव का प्रबल उदय होगा।'

## राजनीतिक कार्यक्रम के तीन पहलू

चौदह वर्ष के बाद मातृभूमि को वापस आए हुए इक्कीस वर्ष के युवक के मुँह से निकले ये शब्द उसकी असाधारण प्रौढता और अभिव्यजना शक्ति का ही परिचय नही देते बल्कि यह भी सिद्ध करते है कि उस प्रारम्भिक काल मे ही भारतीय स्वतन्त्रता के मार्ग की निश्चित रूप रेखा श्री अरविन्द के मन मे बन चुकी थी। यह स्पष्ट है कि बडौदा निवास की पूरी अवधि मे वह सदा यही सोचते रहते थे कि विदेशी बन्धन से मातृभूमि को मुक्त कराने के लिए वह कौन-सा

[1] भारत मे शासन करने वाले अग्रेज अफसर। उस समय यह शब्द आज के समान किसी जाति विशेष के लिए प्रयुक्त नहीं होता था।

[2] उनका स्वधर्म भगवद्गीता मे प्रतिपादित मुख्य तात्त्विक सिद्धान्त।

सर्वोत्तम मार्ग अपनाएँ। सन १६०५ म बगाल का विभाजन एक सुवर्ण अवसर की तरह सामने आया। तब तक वह समुचित कार्यप्रणाली के विषय मे अच्छी तरह सोच विचार कर चुके थे और अपने कुछ घनिष्ठ मित्रो से इस सम्बन्ध म विचार-विमर्श भी कर चुके थे।

इग्लण्ड म रहते हुए ही श्री अरविन्द न अपना जीवन मातृभूमि की सेवा और मुक्ति के लिए अर्पित करने का निश्चय कर लिया था। भारत लौट आने पर इसी लक्ष्य को सामने रखकर वह राजनीतिक विषयो पर लेख लिखने और अपने विचारो के अनुकूल राष्ट्र को जगाकर भारत को स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर करने की कोशिश करने लगे। उस समय के नेताओ ने उनके विचारो का समुचित स्वागत नही किया इसलिए कुछ समय के लिए मौन साध कर वह पीछे हट गए, पर सफल राजनीतिक कार्यवाही के अपने सिद्धान्त और मुक्ति की आशा दोनो म से किसी का त्याग नही किया।[1] उन्ही के शब्दो मे (यद्यपि इन शब्दो मे उन्होने अपने लिए अन्य पुरुष का प्रयोग किया है) उनकी राजनीतिक धारणाओ और गतिविधियो के तीन पहलू थे। 'पहला यह कि उन्होने एक कारवाई शुरू की। वह थी गुप्त क्रान्तिकारी प्रचार और सगठन जिसका मुख्य उद्देश्य सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करना था। दूसरा था जनता मे प्रचार जिसका उद्देश्य था समग्र राष्ट्र के मानस को राष्ट्र की स्वतन्त्रता भावना से भर देना, जिसे तत्कालीन भारतीय असम्भव और कल्पनातीत मानते थे। सोचा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य बहुत शक्ति-सम्पन्न है और भारत बहुत कमजोर, निहत्था और अशक्त है। इस तरह के प्रयत्न की सफलता की आशा स्वप्न मे भी नही की जा सकती। तीसरा पहलू था वर्तमान असहयोग और सत्याग्रह के द्वारा विदेशी शासन का सार्वजनिक और सगठित विरोध करके उस का मूलोच्छेद करने के लिए जनता को सगठित करना।'[2]

'इन्दु प्रकाश' के लेखो के अतिरिक्त श्री अरविन्द का पहला रचनात्मक काम था बडौदा सेना के एक बगाली युवक सैनिक श्री जतिन

[1] आन हिमसेल्फ ऐण्ड द मदर  श्री अरविन्द, पृ० २६।
[2] वही पृ० २८।

बनर्जी को बगाल म गुप्त रूप स एसे दलो को स्थापित करने के उद्देश्य में भेजना जो प्रान्त भर म क्रान्तिकारी प्रचार कर और लोगो को अपनी सना म भरती कर। पहला दल कलकत्ता म स्थापित करन म जतिन सफल हो गया और उसने बगाल के दूसरे भागो मे भी पी० मित्रा और अन्य क्रान्तिकारियो के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया। बाद म श्री अरविन्द के छोटे भाई बारीन्द्र घोष भी उससे मिल गए। भगिनी निवेदिता के उत्कृष्ट जीवनचरित्र म लिजल रमण्ड ने लिखा है

'बारीन्द्र का काम बगाल के दुगम गावो म जाकर जनता को जागत करना और समितियो तथा युवक सगठनो की स्थापना करना था। वह कोई भी बहाना बनाकर मिलते और समिति की बठक कर लेत थे। उनका वास्तविक उद्देश्य था युवको को नागरिक और राजनीतिक शिक्षा देकर 'राष्ट्र के मामलो' से उनको परिचित कराना और उनके प्रति उन्ह सजग बनाना। स्पष्टवादी राष्ट्रीय नेता बाल गगाधर तिलक के नेतृत्व म दक्षिण मे इस तरह के युवक सगठन पहले ही स्थापित हो चुके थे। छोटी-छोटी दमघाटू अनाज की दुकानो म, घरो की छतो पर, और ऐसे ही गुप्त स्थानो पर एकत्र होकर युवक बैठक करत थे। बठको म मेजिनी और गरिबाल्डी की जीवनियां सुनाई जाती थी, स्वामी विवेकानन्द के प्रबोधन पढे जाते थे, महाभारत की वीरतापूर्ण घटनाओ का वणन होता था और भगवद्गीता की व्याख्या की जाती थी। इन समितियो की सख्या दिन दिन बढ़ती गई।'[1]

इसी बीच पश्चिम भारत की एक गुप्त समिति से श्री अरविन्द का सम्पर्क हुआ। वह उसके सदस्य बन गए और बम्बई म उसकी कौसिल से उनका परिचय कराया गया। वास्तव मे उन्होने इस समिति के, जिसके नेता उदयपुर के एक प्रमुख राजपूत थे, और पी० मित्तर के नेतत्व मे सक्रिय क्रान्तिकारी दल के बीच सम्पर्क स्थापित करने का काम किया।[2] उस समिति की काय प्रणाली

---

[1] द डेडिकेटेड लिजेल रेमण्ड पृ० २८३-८४।
[2] आन हिमसेल्फ एण्ड दि मदर', श्री अरविन्द पृ० २८ और ४२।

थी : प्रकट रूप में शारीरिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक क्रिया-कलापों को प्रोत्साहित करने वाले युवक-समाजों की स्थापना करना पर प्रच्छन्न रूप में क्रान्तिकारी कार्रवाई का प्रशिक्षण देना। इस सम्पूर्ण आन्दोलन का समन्वित संगठन करने में श्री अरविन्द सफल नहीं हुए पर फिर भी देश भर में विभिन्न दल इस उद्देश्य को अपना कर काम करने लगे।[1]

स्वामी विवेकानन्द की आयरलैण्डवासी शिष्या भगिनी निवेदिता भारत के उन थोड़े-से लोगों में से थीं, जिन्हें मालूम था कि प्रत्यक्ष रूप से अनुपस्थित होने पर भी बंगाल के राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने वाला दिमाग श्री अरविन्द का ही था। उनके जीवन-चरित्र में लिजेल रेमण्ड ने लिखा है :

'भारत में इस क्रान्तिकारी आन्दोलन के सम्यक् संचालन की पहली अनिवार्य शर्त थी देश की अपनी आवश्यकताओं से उत्पन्न और स्वतःप्रवर्तित उत्साह की एक लहर और उसके लिए जाने-अनजाने सभी आँखें अरविन्द घोष की ओर लगी थीं। जो योजना उनकी दृष्टि में थी और जिसे वह क्रियान्वित करना चाहते थे, वह उन्हीं व्यक्तियों को बताई जा सकती थी जो मानसिक रूप से उसे ग्रहण करने के पात्र हों।'[2]

## आंदोलन का संगठित रूप

लिजेल रेमण्ड से हमें एक महत्त्वपूर्ण जानकारी और भी मिलती है। बंगाल के कई छोटे और एक-दूसरे से अनजान यत्र-तत्र काम करने वाले क्रान्तिकारी दलों को एक संगठन में बाँधने की अरविन्द घोष की योजना थी। इस काम के लिए उन्होंने पाँच सदस्यों की एक राष्ट्रीय समिति बनाई थी। भगिनी निवेदिता भी इस समिति की एक सदस्य थीं। अन्य सदस्य थे सी० आर० दास, जतिन बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ ठाकुर और पी० मित्तर नामक एक वकील और क्रान्तिकारी नेता।

---

[1] वही पृ० ४३।

[2] द डेडिकेटेड, लिजेल रेमण्ड पृ० २८२।

सन् १६०५ म अरविन्द घोष स्वय बगाल म रहने लगे। उस समय तक समिति अपने काम म थोडी-बहुत ही सफलता पा सकी थी, लेकिन वह राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए हजारो युवको को भरती कर चुकी थी और भारतीय स्वतन्त्रता के युवा अग्रगामियो के एक सजीव सगठन को जन्म दे चुकी थी।[1] इससे स्पष्ट है कि बडौदा म रहते हुए भी बगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन के बौद्धिक नेता श्री अरविन्द ही थे।

इस क्रातिकारी काय का मूलाधार क्या था, यह श्री अरविन्द द्वारा अपनी जीवनी के सम्बन्ध म लिखित टिप्पणी और पत्रो के उद्धरणो से प्रकट होता है

*उस समय तक बडे-बडे साम्राज्यो के सैनिक सगठन और सैनिक कारवाई के उपाय आज के समान अजेय और प्रकटत दुर्दमनीय नही थे। तब बन्दूक ही निर्णायक हथियार थी, वायु शक्ति का विकास नही हुआ था और तोपखाने का प्रयोग भी इतना विनाशकारी नही था जितना बाद म हो गया। भारतीयो को निरायुध कर दिया गया था। फिर भी श्री अरविन्द का विचार था कि समुचित सगठन और बाहरी सहायता से यह अडचन दूर हो सकती है और भारत जैसे विशाल देश म व्यवस्थित ब्रिटिश सेनाओ की कमी का लाभ उठाकर व्यापक पैमाने पर छापामार युद्ध किए जाएँ तो सफलता मिल सकेगी। भारतीय सेना के भी सामान्य विद्रोह कर देने की सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द ने ब्रिटिश जनता के स्वभाव और विशेषताओ का और उनकी राजनीतिक प्रवत्तियो का भी अध्ययन किया था। उनको विश्वास था कि अग्रेज भारतीय जनता की मुक्ति के प्रयत्नो का विरोध करते हुए केवल धीरे-धीरे ऐसे सुधार करने को ही तयार होगे जो उनकी साम्राज्य शक्ति को कमजोर न करें इसके बावजूद, वे स्वभावत ऐसे दृढ नही है कि अन्त तक निष्ठुरता से अटल रहे। इसलिए यदि वे विरोध और विद्रोह को व्यापक और प्रबल होता देखेंगे तो अन्त मे अपने साम्राज्य*

[1] वही पृ० २६६।

की रक्षा के लिए काई न कोई समझौता करना ही उचित समझेंगे, ताकि उनके साम्राज्य की यथासम्भव रक्षा हो जाए। और अन्त म जब वे देखगे कि भारतवासी बलात स्वतन्त्रता प्राप्त करके छोडेंगे तब कदाचित् वे स्वय ही स्वतन्त्रता दे देना पसन्द करेंगे।"[1]

यह उल्लेखनीय है कि इन क्रान्तिकारी दलो के सुयोग्य नेताओ म सखाराम गणेश देवस्कर नामक एक महाराष्ट्रीय भी थे जिनका परिवार बगाल मे बस गया था। बँगला मे लिखित 'शिवाजी की जीवनी' विषयक अपनी लोकप्रिय पुस्तक म उन्होंने सबसे पहले 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था। उन्होने अग्रेजो द्वारा भारत के व्यापारिक और औद्योगिक शोषण का सर्वांगपूर्ण विवरण देने वाली 'देशेर कथा' (दश की कथा) नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। बगाल मे उस पुस्तक की प्रबल प्रतिक्रिया हुई और बगाली युवको के मानस पर उसका गहरा प्रभाव पडा। इससे श्री अरविन्द का मत और सुदृढ हो गया कि यदि अग्रेजो के आर्थिक बन्धन को तोड दिया जाए और उसके समानान्तर भारतीय व्यवसाय और उद्योग की उन्नति की जाए तो उसके साथ चलने वाले क्रान्तिकारी प्रयत्नो मे अवश्य सफलता मिलेगी।[2]

श्री अरविन्द ने आरम्भ से ही अपनी क्रान्तिकारी कारवाई मे 'स्वदेशी' या दशी उद्योग द्वारा आत्म निर्भरता को स्थान दिया जो आगे चलकर राष्ट्रवादी दल के कार्यक्रम का एक मुख्य विषय बन गया। उस समय यह योजना अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही थी और कुछ लोगो की सनक मात्र मानी जाती थी, पर श्री अरविन्द ने क्रान्तिकारी केन्द्रो के युवको को इस 'स्वदेशी' सिद्धान्त[3] का प्रचार करने को प्रोत्साहित किया।

इस तरह स्पष्ट है कि जिस समय भारत की स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर कोई भी राजनीतिक दल खुलकर मैदान मे नही आया था, उस समय श्री अरविन्द गुप्त क्रान्तिकारी गतिविधियो मे डूबे थे।

---

[1] आन हिमसेल्फ ऐण्ड द मदर श्री अरविन्द पृ० ३८–३६।
[2] वही पृ० ४६।
[3] वही, पृ० ४५।

बाद में बंगाल के विभाजन के फलस्वरूप जब एक व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला उग्रवादी दल उत्पन्न हुआ तब श्री अरविन्द की गतिविधियाँ भी उस दल की गतिविधियों की दिशा में प्रवृत्त हो गईं और गुप्त कार्यवाहियाँ गौण और अप्रधान हो गईं।[1] किन्तु मातृभूमि को विदेशी आधिपत्य से मुक्त करने के लिए जब और जहाँ जरूरत पड़े तब शक्ति के प्रयोग को कभी उन्होंने गलत नहीं माना। अगले विभाग में इस पहलू पर आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

[1] वही पृ० ४२।

अध्याय ५

# सन् १९०५ का सकट और सुधारवाद का उदय

पिछले अध्याय मे वडौदा-निवास के दौरान विकसित श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धान्तो पर विचार किया गया। यह स्पष्ट है कि वह मातृभूमि के स्वतन्त्रता-सग्राम मे प्रवेश करने के सुअवसर की प्रतीक्षा मे थे। किन्तु सन् १९०५ के पहले राजनीति मे उनके सक्रिय भाग लेने का उपयुक्त समय नही था। उनके एक जीवनी लेखक ने लिखा है "इस बीच उदारपथी लोगो का 'याचना सिद्धान्त' ही इडियन नेशनल काग्रेस का सिद्धान्त रहा। राष्ट्र का राजनीतिक स्पन्दन बहुत मन्द हो गया था। उनका ही प्रान्त बगाल निडर होते हुए भी उस समय श्री अरविन्द और उनकी ओजस्वी राष्ट्रीयता का सदेश सुनने के लिए तत्पर नही था। इसलिए जब तक बगाल और सारा देश उनके प्रबल राष्ट्रीय कार्यक्रम को स्वीकार कर उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयार न हो, तब तक उन्होने शिक्षा के क्षेत्र मे काम करने का ही निश्चय किया।"[1] लेकिन वडौदा मे उनकी राजनीतिक गतिविधिया केवल शिक्षा क्षेत्र तक सीमित नही थी। स्पष्ट राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का खुल्लम-खुल्ला समर्थन करने को तैयार होने वाला कोई दल नही था, इसलिए श्री अरविन्द ने अपना ध्यान प्रच्छन्न क्रान्तिकारी कार्रवाइयो की ओर लगाया।

सन् १९०५ मे एक ऐसी घटना हुई जिसने राष्ट्र को विक्षुब्ध कर क्रान्तिकारी सिद्धान्तो को अपनाने के लिए उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न कर दी और अग्रेजो के विरुद्ध जन विरोध की एक लहर उठ खडी हुई। भारत के गुण-सम्पन्न, किन्तु हठी और दम्भी वाइसराय लॉर्ड

---

[1] श्री अरविन्द अय्यगार पृ० १०६।

कर्जन ने बंगालियों के तीव्र विरोध के बावजूद बंगाल का विभाजन करने का निश्चय किया। तत्काल उदारपंथी लोगों के पैरों तले की जमीन खिसक गई और जन-समुदाय के मन में केवल बंगाल में ही नहीं, महाराष्ट्र, पंजाब आदि भारत के अन्य भागों में भी, जहाँ राष्ट्रीय चेतना अच्छी तरह विकसित हो चुकी थी, राष्ट्रीयता की प्रबल लहर दौड़ गई। सन् १६०८ में अपने एक भाषण में श्री अरविन्द ने साफ-साफ बताया है कि बंग-भंग से राष्ट्र चौंक कर जाग उठा और उसकी असलियत से परिचित हुआ। वह कहते हैं

'हम, भारतवर्ष के लोग विदेशियों के 'माया जाल' में पड़ गए, जिसने हमारी आत्मा को वश में कर लिया। विदेशी शासन, विदेशी सभ्यता, विदेशियों के शक्ति और सामर्थ्य की माया ने ही हम पर वशीकरण कर दिया। वे मानो हमारे शारीरिक, मानसिक और नैतिक जीवन के दासत्व की बेड़ियाँ थीं। हम विदेशियों के साथ स्कूल गए, हमने विदेशियों का शिष्यत्व ग्रहण किया। हम अपनी महानता और अच्छाई को तिलांजलि दे बैठे। हमने अपने आप को स्वराज्य और राजनीतिक जीवन के अयोग्य समझा, हमने अंग्रेजों को अपना आदर्श और उद्धारक मान लिया। ये सब माया और बन्धन थे। केवल दमन और यन्त्रणा से ही इस माया का व्यामोह दूर हो सकता है और लॉर्ड कर्ज़न के बंग भंग ने माया के इस कुहक जाल को दूर कर दिया। हमने अपना सिर ऊपर उठाया और देखा कि ऊपर बैठी सुवर्ण चिड़िया हमारी सच्ची और निश्छल आत्मा ही है।[1] इस तरह हमने देखा कि स्वराज्य का वास हमारे अन्तरतम में है और उसका उद्घाटन करना तथा उसे प्राप्त करना हमारा ही काम है।"[2]

---

[1]यह संकेत कठोपनिषद की दो पक्षियों की प्रसिद्ध कथा की ओर है।

[2]स्पीचेज़, श्री अरविन्द पृ० ३६–३७। कहा जा सकता है कि कांग्रेस के उदारपंथी दल को विभाजन से स्पष्टतया बड़ी निराशा हुई क्योंकि वह समझ गया कि उसके पैरों तले की जमीन खिसक गई है और उसके प्रतियोगी क्रान्तिकारियों की गरिमा बहुत बढ़ी है। सन् १६०७ में अध्यक्षीय भाषण में जो दिया नहीं जा सका रासबिहारी घोष ने लार्ड कर्जन की नीतियों की अत्यन्त कठोर आलोचना की थी। लॉर्ड कर्ज़न पर अनेक आरोप लगाने के बाद उन्होंने कहा था और

यही वह अवसर था जिसकी प्रतीक्षा श्री अरविन्द और उनके समानधर्मा विचारक कर रहे थे। वे तेजी से राजनीतिक गतिविधिया म कूद पडे। उन्होने पाच वप की अल्पावधि मे भारत की राजनीतिक रूपरेखा को पूणत बदल लिया और ऐसी घटनाओ की अटूट शृखला चालू कर दी जिसके परिणामस्वरूप चार दशका के भीतर-भीतर भारत एक स्वतत्र राष्ट्र के रूप म उभर आया।

## बग-भग की प्रतिक्रिया

२६ सितम्बर सन् १६०५ का बगाल का विभाजन कानूनी तथ्य बन गया। सारा प्रान्त क्रोध से उबल उठा। सन् १६०६ के आरम्भ म २६ माच को श्री अरविन्द के आजन्वी छोटे भाई बारीन्द्र घोप न कलकत्ता से 'युगान्तर' नामक एक अग्रेजी साप्ताहिक पत्रिका चालू की। इसमे श्री अरविन्द अक्सर लेख भेजने लगे, यद्यपि बडौदा की सेवा मे रहने के कारण उनका नाम नही छपता था। १४ अप्रैल का बाडीसाल के राजनीतिक सम्मेलन मे वह शामिल हुए। सम्मेलन पुलिस के लाठी चाज के कारण भग हो गया। सन १६०६ के मध्य मे वह बडौदा कॉलेज स एक साल की अवेतन छुट्टी लेकर कलकत्ता पहुचे, और वहा बगाल मे राष्ट्रीय आन्दोलन का सगठन करने के काम मे सक्रिय रूप से लग गए। छह अप्रैल को 'वन्दे मातरम' नाम से विपिनचन्द्र पाल ने एक अग्रेजी साप्ताहिक चालू किया। उन्होने श्री अरविन्द से इसमे सहयोग देने का आग्रह किया। श्री अरविन्द न यह आग्रह तत्काल मान लिया, क्योकि इसमे उन्हाने क्रान्तिकारी उद्देश्य के लिए आवश्यक सावजनिक प्रचार का अच्छा अवसर देखा। इस पत्रिका मे और 'कमयोगिन' म जिसे श्री अरविन्द ने सन् १६०६ मे आरम्भ किया था, हमे ऐसी प्रचुर सामग्री मिलती है जिससे उनका राजनीतिक दशन स्पष्ट होता है।

---

अन्त म उन्होने बगाल म आग लगा दी है। नये दल क उदय का सारा श्रेय लॉर्ड कर्जन पर है क्योकि उन्होने ही जनता का निराशा और उन्माद का आर धकेला था।'

क्रान्तिकाल (१९०५–१९१०) के उनके राजनीतिक विचारों का अध्ययन हम दो दृष्टियों से करेंगे। पहले हम उनके राजनीतिक सिद्धान्त के दार्शनिक आधार और उससे उद्भूत राजनीतिक प्रश्नों के स्पष्ट रूप पर विचार करेंगे। उसके बाद हम उनकी राजनीतिक गतिविधियों के तौर-तरीके और प्रणालियों का अध्ययन करेंगे जिनका प्रतिपादन उन्होंने लक्ष्यसिद्धि के लिए किया था। ये दोनों ही बातें महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि श्री अरविन्द गम्भीर राजनीतिक सिद्धान्तवादी और चतुर राजनीतिक युक्तिवादी दोनों ही थे। इतिहास में इन दोनों का एक व्यक्ति में समन्वय बहुत कम मिलता है।

खण्ड ३

# श्री अरविन्द के दर्शन का आध्यात्मिक आधार और उनका राजनीतिक लक्ष्य

अध्याय ६

# आदर्शवादी श्री अरविन्द
# उनका आध्यात्मिक विकास का सिद्धान्त

ससार के महान चिन्तक मूलत दो विचारधाराओ मे विभक्त है सूक्ष्म सम्प्रत्ययवादी और स्थूल भौतिकवादी। भारत के अधिकाश दार्शनिक सूक्ष्म सम्प्रत्ययवादी थे, श्री अरविन्द भी। हालांकि उनके तत्वज्ञान मे एक ऐसा मौलिक पक्ष भी है जो पारम्परिक हिन्दू दर्शन-प्रणालियो मे नही है। उनके सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त को पूर्ण और अन्तिम रूप सक्रिय राजनीति से सन्यास लेने के बाद पाडिचेरी मे प्राप्त हुआ। यह भी स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड से लौटने के बाद ही उनके मन मे उसकी रूपरेखाएँ बनने लगी थी और उनके राजनीतिक चिन्तन पर उसका गहरा प्रभाव पडा था। इसलिए सरलतम शब्दावली मे उनके दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करना ठीक होगा। अपनी दार्शनिक धारणाओ को व्यक्त करने के लिए उन्होने अनेक पारिभाषिक शब्दो की रचना की थी, लेकिन आगे के विश्लेषण मे यथासम्भव उनसे बचने का यत्न किया गया है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके है श्री अरविन्द सूक्ष्म सम्प्रत्ययवादी थे। वह लिखते है

'हमारे दर्शन शास्त्र के अनुसार सूक्ष्म सम्प्रत्यय ही भौतिक तत्त्व (महाभूत) के रूप मे प्रकट होते है और अमूर्त सम्प्रत्यय ही मूर्त रूप धारण करता है। यह विचार मानवीय जीवन मे सच है, राजनीति मे सच है, और राष्ट्र के जीवन और विकास के विषय मे भी सच है। अमूर्त सम्प्रत्यय ही स्थूल भौतिक संस्थाओ को मूर्त रूप देता है।'[1]

---

[1] स्पीचेज श्री अरविन्द पृ० ६१।

यह एक प्राचीन विचारधारा है जिसे पश्चिम में प्लेटो ने और उससे भी अनेक सदियों पहले भारत के वेदकालीन स्रष्टाओं ने प्रचारित किया था। लेकिन श्री अरविन्द ने अपने आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त में उसको एक विलक्षण महत्त्व दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार, जब निरपाधि निरपेक्ष और परम पुरुष (ब्रह्म) का स्थूलतम और घनीभूत जड़ प्रकृति में अभियोग होने पर सृष्टि का आरम्भ हुआ। सृष्टि के उस आरम्भ काल में ही जड़ प्रकृति के जलावर्त्त में निमग्न हुआ जीव नाना योनियों की श्रेणियों में शनैः शनैः प्रवहमान होकर अपने उद्भव के उद्गम की दिशा में अग्रसर होने लगा। युगों की दीर्घ अवधि के बाद वह जीव हीनतम योनि के रूप में प्रकट हुआ और उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर योनियों में परिणत होता गया। दीर्घ अन्तराल के बाद जीव में मनस्तत्व का आविर्भाव हुआ। उससे भी ऊपर की योनि मनुष्य योनि है। उसमें बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है। किन्तु बुद्धि तत्त्व ही विकास शृंखला की अंतिम कड़ी नहीं है। वह तो वस्तुतः एक मध्य बिन्दु है आत्म विकास के भवन की पहली सीढ़ी है जिस पर पैर रख कर उसे ऊपर चढ़ना है। वहां पहुंच कर आधिभौतिक मनस्तत्व की परिणति आधिदैविक मनस्तत्व में हो जाएगी और जीवन सच्चिन्मय दिव्य रूप को प्राप्त होगा। यह विकास मनस्तत्व हीन अन्नमय कोश वाले मानव की मनोमय कोश वाले मानव के रूप में परिणति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। चिन्मय भावी जीव के लिए अन्तःकरण की प्रवृत्ति और प्रत्यक्ष ही प्रमाण होंगे, न कि तर्क-बुद्धि प्रेरित अनुमान जो आज के मानव के संबल हैं।

आदि जीव से लेकर मनोमय मानव तक की विकास प्रक्रिया और भावी विकास प्रक्रिया में प्रभूत अन्तर है। पहला विकास निर्विकल्पक और सहजवृत्तिज था और हमारी काल-गणना की दृष्टि से बहुत ही मन्द और समय-साध्य था किन्तु अब मानव के लिए यह सम्भव हो गया है कि वह स्वयं भी इस विकास में सविकल्पक योग देकर उसकी गति को त्वरित कर सके। श्री अरविन्द ने विकास की इस प्रक्रिया के विषय में उसमें उद्भूत विघ्न-बाधाओं पर विजय पाने की

पद्धति के विषय में और प्रस्तुत कठिनाइयों के निराकरण के उपायों के विषय में प्रभूत साहित्य की रचना की है। अपने लेखों में उन्होंने मानव चेतन्य की विविध श्रेणियों का असाधारण रूप में विस्तृत और सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है और उच्चतर आधिदैविक स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया है। उनके कथन की संक्षिप्त पुनरावृत्ति यहां अनपेक्षित है। यही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने अपनी निजी प्रक्रिया का विकास किया, जिसको उन्होंने 'पूर्ण योग' की संज्ञा दी और जिसमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग[1] के साथ साथ तान्त्रिक सिद्धान्तों का भी समावेश किया जिससे कि मनुष्य उस साधन द्वारा विकास की गति को त्वरित कर सके। इसे सिद्ध करने का मार्ग यह है कि योगी आधिदैविक स्तर तक ऊपर उठे, जहां आध्यात्मिक मनस्तत्व की दिव्य ज्योति सदा प्रदीप्त रहती है। वहां पहुँच कर योगी उस ज्योति को अपनी चेतना में आत्मसात कर ले और फिर भौतिक धरातल पर वापस उतर आए ताकि वह दिव्य अध्यात्म तत्त्व स्थूल धरातल पर न पहुँच कर शक्ति विकास की प्रक्रिया को त्वरित कर सके।

इससे हम श्री अरविन्द के योग के दो विशिष्ट लक्षणों का पता चलता है। प्रथम तो वह इस बात पर जोर देते हैं कि उनका योग केवल व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग नहीं है, वरन् सारी मानव जाति के हित के लिए है। पारम्परिक धर्मों ने तो भक्त को इस सांसारिक जीवन के बन्धन से व्यक्तिगत मोक्ष का मार्ग बताया था और उस अध्यात्ममय दिव्य धाम में पहुंचने की दिशा का निर्देशन किया था पर श्री अरविन्द ने दृढ़ता से कहा कि यह आध्यात्मिक अभ्युदय के कठिन मार्ग की केवल एक दिशा मात्र है। योगी का कर्तव्य है कि वह ऊपर चढ़ने के बाद फिर से नीचे आए ताकि वह जनसाधारण का भी मार्गदर्शन कर सके,[2] प्रकृति के कण कण को उन्नति के पथ पर प्रवृत्त होने में सहयोग

[1] हिन्दू धर्म में प्रतिपादित योग के चार प्रकार।

[2] यह उल्लेखनीय है कि सिद्धों के पारम्परिक हिन्दू सिद्धान्त और बौद्धमत्वों के महायान में इस मत का घनिष्ट सम्बन्ध है। फिर भी श्री अरविन्द के सिद्धान्त की तरह आध्यात्मिक आदर्श के रूप में यह रचना कभी स्पष्ट नहीं प्रतिपादित हुआ है।

दे सके। सभी जीवो के उद्धार म इस प्रकार उनकी सर्वोदय की कल्पना महान आकाक्षा और प्रबल भावना की दृष्टि से विलक्षण है। उनकी कामना न तो व्यक्तिगत माक्ष तक और न समग्र मनुष्य-जाति की मुक्ति तक सीमित है। उनकी कामना ता जीव के माक्ष पर भी समाप्त नही हाती, बल्कि समग्र भौतिक चेतन का ही आमूल रूप परिवत्तन करने की है ताकि एक नये इहलोक और परलाक की सष्टि हा मके। श्री अरविन्द के सिद्धान्त की दूसरी विशषता यह थी कि वह जड (प्रकृति) और पुरुष मे द्वत सामजस्य स्थापित करना चाहते है। वह चेतन एक ऐसा द्वत है जो आरम्भ काल से ही दाशनिक अनिश्चय की दोला पर आरूढ है। वस्तुत जड चेतन से भिन नही है, वह तो केवल विकास का ही भिन्न इतर स्तर है। विकसित होते-हाते अन्त म वह शुद्ध चेतन मे परिणत होगा, अर्थात अपनी आदि स्थिति का ही प्राप्त हा जाएगा। जड चेतन का स्थूल रूप है और चेतन जड का सूक्ष्म रूप। दोना एक ही सवव्यापक सत्ता के दा रूप है।

श्री अरविन्द ऐसा नही साचते थे कि किसी दिन समग्र मानव जाति की अतिमानव म अचानक परिणति हो जाएगी। उनका विश्वास था कि यह तो मन्द और कठिन प्रक्रिया है। पहले अधिक विकसित कुछ आत्माएँ ही ऊपर उठेंगी और वे ही शेप मानव समाज का माग-दशन करेगी जसा कि सभी कठिन कामा मे होता है। इन महान आत्माओ को कष्ट झलकर ही दूसरो के लिए माग प्रशस्त करना होगा। सामान्य मानव विघ्न-बाधाआ मे पराजित हो जाएँगे और माग म ही गिर पडेगे। लेकिन देर-सवेर यह रास्ता खुल कर रहेगा। वह पथ ज्योतिमय होगा और दीघ और कठिन आध्यात्मिक यात्रा पर मानव-जाति का प्रयाण आरम्भ होगा।

भारत मे सदा से आध्यात्मिक विचारा और क्रियाआ की एक दीघ और गहन परम्परा रही है। इसलिए यह आशा स्वाभाविक है कि विकास की दिशा के इस अभियान म भारत अगुआ बन। आगे के अध्यायो म अरविन्द की राष्ट्र और राष्ट्रीयता विषयक धारणाआ के पयवेक्षण से स्पष्ट हो जाएगा कि वह भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता

अध्याय ७

# उनकी 'राष्ट्र' की कल्पना

भारत में जीवन पद्धति सम्बन्धी सभी बड़े आन्दोलन किसी नये आध्यात्मिक सिद्धान्त और साधारणतया किसी नये धार्मिक कर्मकाण्ड को लेकर आरम्भ हुए हैं।'' हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं कि भारत का नवजागरण और उन्नीसवीं सदी में आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का क्रमिक विकास वास्तव में भारत की प्राचीन हिन्दू संस्कृति पर पड़े पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जन्मे धार्मिक और सामाजिक सुधारों पर आधारित था। श्री अरविन्द की सूक्ति का प्रयोग करना चाहें तो हमें बंगाल के महान उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी के, सन १८८३ में प्रकाशित सुप्रसिद्ध उपन्यास आनन्द मठ का उल्लेख करना होगा। जैसा श्री अरविन्द ने कहा है इसी पुस्तक ने हमको एक नये भारत की सृष्टि करने वाला सजीवन मन्त्र 'वन्दे मातरम् दिया है।''

इसी मन्त्र 'वन्दे मातरम्' (माता की वन्दना करता हूँ) में ही श्री अरविन्द के राष्ट्र की कल्पना का रहस्य निबद्ध है। उनके लिए भारत केवल एक भौगोलिक सत्ता मात्र नहीं है प्राकृतिक या भौतिक भूमि-खण्ड मात्र भी नहीं है और न ही केवल बुद्धि की कल्पना का विषय है वह तो एक मूर्तिमती देवी एवं शक्तिमयी माता है, जो सदियों तक अपनी सन्तानों का पालन में जुटी रही है और उनका पालन-पोषण करती रही है। पर वही आज विदेशी अत्याचारों की बेड़ियों में जकड़ी कराह रही है। उसका स्वाभिमान पूर्णत नष्ट हो चुका है। उसकी गरिमा और महिमा मिट्टी

---

[1] रेनायसाँ इन इण्डिया श्री अरविन्द पृ० ६६।

[2] 'वन्दे मातरम्' १६ अप्रैल १९०७।

म मिल गई है। उनकी प्रसिद्ध 'भवानी मन्दिर' योजना पर बंकिम के 'आनन्द मठ' का स्पष्ट प्रभाव उसके अन्तर्निहित सिद्धान्त में ही नहीं बल्कि मातृभूमि की मुक्ति के लिए आत्मार्पित स्वातन्त्र्य योद्धाओं के प्रशिक्षण हेतु प्रस्तावित गुप्त मठ के प्रस्ताव में भी है। इसी योजना में श्री अरविन्द ने लिखा है 'राष्ट्र क्या है? हमारी मातृ भूमि क्या है? वह भूखण्ड नहीं है, वाक्-विलास नहीं है, और न कोरी मन की कल्पना है। वह महाशक्ति है जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि-कोटि जनता की व्यष्टि की शक्तियों का समाविष्ट रूप है। जैसे पुंजीभूत होने पर एक शक्तिमती भवानी महिषमर्दिनी का उद्भव हुआ था। ततीस कोटि देवों की शक्ति।[1] वह शक्ति जिसे भारत के प्रसंग में भवानी भारती कह सकते हैं, तीस कोटि जनता की व्यष्टि की शक्तियों की जीवन्त समष्टि है ।[2] बंकिम पर लिखे अपने निबन्ध में वह लिखते हैं

'जब मातृभूमि अन्तश्चक्षुओं के लिए भूखण्ड अथवा जन-समूह मात्र न रहेगी, जब वह उस महा सुन्दरी महामाया, महामातृ-शक्ति के मनोहारी और हृदयस्पर्शी रूप में ही प्रकट होगी, तभी माता और उसकी पूजा के सर्वग्राही भावातिरेक में तुच्छ भय और हीन आशाएँ तिरोहित होंगी और तभी किसी दलित राष्ट्र को बचाने वाले चमत्कारी देश प्रेम का जन्म हो सकेगा। उनके आध्यात्मिक देश प्रेम की दिव्य ज्योति इस उद्धरण में सर्वाधिक स्पष्ट है जो 'वन्दे मातरम' के लिए लिखे गए एक लेख में लिया गया है, जिसे पुलिस ने कब्जे में ले लिया था और अलीपुर षडयन्त्र मुकदमे में साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया था।

---

[1] यहाँ पर देवी भागवतम की दुर्गा सप्तशती में दी गई एक कथा की ओर इंगित है। सब देवों ने इकट्ठे होकर अपनी-अपनी शक्तियाँ एकत्र की और उनसे एक समन्वित शक्ति सम्पन्न देवी भवानी प्रकट हुई। तब भवानी ने घोर अत्याचारी महिषासुर का वध किया और उसकी निरंकुशता से देश को मुक्त किया।

[2] भवानी मन्दिर जो श्री अरविन्द मन्दिर वार्षिकी के पन्द्रहवें जयन्ती अंक १५ अगस्त १९५६ को प्रकाशित हुआ।

[3] वन्दे मातरम, १६ अप्रैल १९०७।

## उनका राष्ट्र-प्रेम

'राजनीति म प्रेम का स्थान ता है, लकिन ऐस प्रेम का जा अपन देश के लिए हो अपन देशवासिया के लिए हा अपनी जाति के गौरव, उत्कप और आनन्द के लिए, अपन देशवासिया के हिताथ आत्माहुति के मुख के लिए हो, उनके कष्टा के निवारण मे प्राप्त हप के लिए हो अपन दश और उसकी स्वतन्त्रता के लिए रक्त दान के आनन्द के लिए हो मरने के बाद पूवजा के साथ मिलने के सुख के लिए हो। मात भूमि के रजकण के स्पश, भारत के सागरा से आने वाली वायु के झकोर, भारत के पवता से निकलन वाली नदिया, भारतीय भाषा सगीत और काव्य का श्रवण भारत के जीवनयापन पद्धतिया वेश विन्यासा, आचार विचारा और स्वभाव प्रवत्तिया आदि से मिलन वाल आनन्द की लगभग भौतिक अनुभूति आदि ही उस प्रेम-वक्ष का मूल है। अपने अतीत का अभिमान वत्तमान की वदना और भविष्य की तीव्र कामना उसके स्कन्ध और शाखा-प्रशाखा है। आत्मवलि आत्मविस्मति और दश के लिए अपार कष्ट-सहिष्णुता उसके फल है। मात भूमि म ही पुण्य दव भूमि की प्रतीति, मातरूप का दशन उसी का निरन्तर ध्यान, सतत चिन्तन और चिरतन आराधन उसका जीवन रस है।'[1]

अरविन्द के लेखन से ऐसे अनकानेक उद्धरण दिए जा सकते ह, लेकिन ऊपर के उद्धरण मात्र से पर्याप्त स्पष्ट हा जाता है कि भारत के प्रति उनका प्रेम राष्ट्र के रूप मे भारत की उनकी कल्पना उस देश-प्रेम की तुलना म कही अधिक गहन और अगाध थी जो सामान्यत किसी देशवासी मे होता है। उनकी दष्टि म भारत एक सजीव और स्पन्दनमान आध्यात्मिक सत्ता है। बकिम के उपन्यास 'आनन्द मठ' का मूल सस्कृत गीत 'वन्दे मातरम' आज स्वतन्त्र भारत के दो राष्ट्रीय गीता मे एक है। श्री अरविन्द ने उसका अग्रेज़ी ललित पद्यानुवाद किया था और उसमें भारत माता के स्वरूप की भव्य काव्यात्मक अभिव्यक्ति की थी

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस श्री अरविन्द पृ० ८ -८६।

Mother I bow to thee!
Rich with thy hurrying streams
Bright with thy orchard gleams
Cool with thy winds of delight
Dark fields waving Mother of might
Mother free
To thee I call Mother and Lord!
Thou who savest arise and save
To her I cry who ever her foemen drave
Back from plain and sea
And shook herself free
Thou art wisdom thou art law
Thou our heart our soul our breath
Thou the love divine the awe
In our hearts that conquers death
Thine strength that nerves the arm
Thine the beauty thine the charm
Every image made divine
In our temples is but thine[1]

श्री अरविन्द की राजनीतिक विचारधारा को पूरी तरह समझने के लिए उनकी 'राष्ट्र' की कल्पना का बहुत महत्त्व है। उनकी 'राष्ट्रीयता' की कल्पना इसी की तार्किक परिणति है।

[1]श्री अरविन्द कृत बंकिम तिलक-दयानन्द से उद्धृत पृ० ३ और ४।

अध्याय ८

# उनकी 'राष्ट्रीयता' की कल्पना

भारत माता वस्तुतः माँ तो थी पर बेड़ियों में जकड़ी माँ विदेशी आक्रमकों की दासता की बेड़ियों में जकड़ी निरस्त्र माँ विदेशी शासकों द्वारा सतायी जाती भूखी माँ। अपनी माँ को अपनी देवी को इस दयनीय स्थिति में देखकर उसके पुत्रों का क्या कर्तव्य है? श्री अरविन्द अपनी तर्क प्रणाली के आधार पर इसका एक ही उत्तर दे सकते थे और वही उन्होंने दिया भी। माँ को बेड़ियों से मुक्त करने के लिए हर सम्भव उपाय करना बेटे का कर्तव्य है। इस कर्तव्य में कोई ना-नुकुर नहीं हो सकती। माँ की स्वतन्त्रता के प्रसंग में कोई समझौता करने या सौदा पटाने का प्रश्न नहीं उठता, केवल एक लक्ष्य हो सकता है—पूर्ण और अखण्ड स्वतन्त्रता। इस संघर्ष में माता के हितार्थ सन्तान को अपना सर्वस्व का बलिदान करने के लिए उद्यत रहना होगा क्योंकि उन्होंने यह सर्वस्व उस माता से ही प्राप्त किया है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि 'राष्ट्रीय मुक्ति का प्रयत्न एक परम पवित्र यज्ञ है, जिसमें बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और अन्य कार्य छोटी-बड़ी आहुतियाँ हैं। इस यज्ञ का सुफल स्वतन्त्रता है जिसे हम देवी भारत माता को अर्पित करेंगे। सप्तजिह्वा यज्ञाग्नि की ज्वालाओं में हमको अपनी और अपने सर्वस्व की आहुति देनी होगी, अपने रुधिर और अपने प्रियजनों के जीवन और सुख की भी आहुति देकर इस अग्नि को प्रज्वलित रखना होगा, क्योंकि मातृभूमि वह देवी है जो अपूर्ण और विकलांग बलि से सन्तुष्ट नहीं होती और अपूर्ण मन से बलिदान करने वाले को देवता कभी मुक्ति का वरदान नहीं देते।"[1]

[1] द डाक्ट्रिन आफ पैसिव रेजिस्टेंस, श्री अरविन्द, पृष्ठ ७७–७८। यहाँ देवीपूजा का तान्त्रिक पक्ष साफ दीखता है।

इसी भावावेश से उन्होने आगे लिखा है 'यदि किसी कमी के कारण आत्मसमर्पण की पूर्णता नष्ट हो जाएगी, यदि कोई समझौता आत्माहुति की पूर्णता को क्षीण कर देगा, यदि कोई शंका हमारी आस्था और आवेश को आहत कर देगी, यदि 'स्व' का विचार हमारे प्रेम की पावनता को अपवित्र कर देगा, तो माता सन्तुष्ट नही होगी और प्रत्यक्ष दर्शन नही देगी।'[1]

## राष्ट्रीयता का रूप

इस तरह, श्री अरविन्द की धारणा मे राष्ट्रीयता केवल देश-प्रेम और बुद्धि का विलास मात्र नही, बल्कि एक गहन गम्भीर साधना है। अपने एक भाषण में उन्होने यह बात स्पष्ट की है 'राष्ट्रीयता क्या है? राष्ट्रीयता केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नही है, राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर-प्रदत्त है, राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमे जीना है। राष्ट्रवादी बनने के लिए राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करने के लिए हमे धार्मिक भावना का पूर्ण पालन करना होगा। हमे स्मरण रखना चाहिए कि हम निमित्त मात्र हैं, भगवान के साधन मात्र है।'[2]

यहा हमे राजनीति के प्रति उनके उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है जो बडौदा निवास के प्रारम्भिक काल मे विकासोन्मुख था। यह जन-संकुल कोलाहल का कुहक मात्र नही है। यह उनकी दृढ मान्यता है जिसे उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है। यह श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धातो के सही अभिप्राय को समझने की कुजी है—उस सिद्धान्त की जिसे हम 'आध्यात्मिक राष्ट्रीयता' की सज्ञा दे सकते है। भारतीय इतिहास के इस काल का सही मूल्याकन करने के लिए हमको इस आध्यात्मिक तत्त्व और इस धार्मिक उद्बोधन को ठीक से समझना होगा, क्योकि इसी के कारण राष्ट्रवादी आन्दोलन अग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग का बौद्धिक मनोविनोद न रह कर कोटि-कोटि जन का आन्दोलन बन गया,

[1] वन्दे मातरम साप्ताहिक संस्करण १२ अप्रल १९०८।
[2] स्पीचेज श्री अरविंद पृ० ६।

जिसने भारतवासियों के मन और मस्तिष्क में स्वातन्त्र्य की कामना और किसी भी प्रकार उसकी प्राप्ति का दृढ संकल्प जागृत किया। श्री अरविन्द का विचार था कि मानव-जाति के आध्यात्मिक जागरण में, और समग्र भूमण्डल को एक दिव्य सन्देश देने में भारत का अनिवार्य भूमिका निभानी है। इसी विश्वास के कारण उनकी यह धारणा और भी दृढ हो गई कि पूर्ण स्वराज ही सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद का लक्ष्य हो सकता है उससे कम कुछ नहीं। वन्दे मातरम में एक लेख में उन्होंने सार रूप में लिखा था हम तो केवल मातृभूमि के दिव्य रूप को ही पूज्य मानते हैं किसी भी साम्प्रतिक राजनीतिक लक्ष्य को नहीं। साथ ही किसी भी कार्यवाही को राजनीतिक दृष्टि से अच्छी या बुरी मानने की हमारी एक मात्र कसौटी है राष्ट्रीय मुक्ति में उसका सहायक या बाधक होना।[१]

## मातृभूमि के प्रति प्रेम

भारत माता के प्रति उनका ज्वलन्त देश प्रेम और अपूर्व आस्था उनके भाषणों में प्रतिबिम्बित है। बंगाल नेशनल कालेज के विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने कहा था हर राष्ट्र के इतिहास में ऐसे अवसर आते हैं जब विधाता उसके सामने एक ऐसा काम, एक ऐसा उद्देश्य प्रस्तुत कर देते हैं जिसके लिए बडी से बडी बात को त्याग देना पडता है। हमारे देश में भी अब ऐसा समय आ गया है जब उसकी सेवा से बढकर कोई बात नहीं हो सकती, जब सब-कुछ उसी उद्देश्य से करना होगा। पढना है तो उसी की सेवा के लिए, अपने शरीर, मन और आत्मा को प्रशिक्षित करना है तो उसी की सेवा के लिए। जीविकोपार्जन करो तो इसलिए कि उसी के लिए जी सको। सुदूर विदेशों में जाओ तो इसलिए कि ज्ञान-राशि लेकर वापस आओ ताकि मां की सेवा कर सको। काम करो ताकि उसकी समृद्धि हो। कष्ट सहो तो भी उसी के सुख के लिए। इस एक उपदेश में सभी कुछ समाहित है।[२]

[१] द डाक्ट्रिन आफ पैसिव रेजिस्टेंस श्री अरविन्द पृ० ६७–६८।

[२] स्पीचेज श्री अरविन्द पृ० ४।

आध्यात्मिक राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि श्री अरविन्द निस्संकोच बार-बार कहते है कि बंग-भंग के स्फुलिंग से प्रज्वलित राष्ट्रीय आन्दोलन की ज्वाला ईश्वर-प्रेरित और ईश्वर-निर्देशित है। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन के दिनों में दिए गए उनके प्रेरक और उत्तेजक भाषणों में यह भावना विशेष रूप से स्पष्ट है। इस आन्दोलन के नेताओं के बारे में उन्होंने कहा था "उनमें से सभी जाने या अनजाने एक ही सर्वोपरि विचार से परिपूरित थे कि भारत की रक्षा करने के लिए एक महान शक्ति काम कर रही है, और उसी के आदेश पर हम चल रहे हैं। इस विचार से उन्हें कोई डिगा नहीं सकता। ... बंगाल का यह आन्दोलन राष्ट्रीयता का यह आन्दोलन मूलतः किसी भी स्वार्थ से प्रेरित नहीं है। कुछ लोगों के मन में कोई भिन्न धारणा हो सकती है, पर हम किसी राजनीतिक स्वार्थ के पीछे नहीं भाग रहे हैं। यह तो एक धर्म है जिसे हम जीने का यत्न कर रहे हैं। यह ऐसा धर्म है जिसके बल पर हम अपने राष्ट्र में, अपने देशवासियों में ईश्वर का साक्षात्कार करने का यत्न कर रहे हैं।"[1]

एक अन्य भाषण में उन्होंने कहा है

'राष्ट्रीयता स्वयं परमात्मा से उद्भूत एक धर्म है। ... उसका दमन नहीं हो सका है और न हो सकेगा। राष्ट्रीयता ईश्वर की शक्ति में अमर होकर रहती है और उसका किसी भी शस्त्र से संहार सम्भव नहीं है। राष्ट्रीयता अमर है, क्योंकि वह मर्त्य मानव की सृष्टि नहीं है। सम्प्रति बंगाल में तो साक्षात् ईश्वर ही कार्यरत है।'[2]

इसी प्रकार 'वन्दे मातरम्' में अपने एक प्रेरणाप्रद अग्रलेख में उन्होंने लिखा था

'अधिकारी वर्ग का पाला इस बार अल्पसंख्यक स्वयंभू नेताओं से नहीं पड़ा है जो हमेशा सत्ता को पूज्य मानकर उसके सामने सिर झुकाने को उद्यत हैं, बल्कि उस नवजागृत जनसमूह से पड़ा है, जिनके मन में देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता का लक्ष्य धार्मिक आस्था का

[1] स्पीचेज श्री अरविन्द पृ० १८–१९।

[2] श्री एस० के० मित्र कृत श्री अरविन्द ऐंड इंडियन फ्रीडम पृ० ५६।

ऊँचा स्थान ग्रहण कर चुका है। राजनीतिक संघर्ष ने धार्मिक बाना पहन लिया है, और अब जनता के सामने असल प्रश्न यह है कि ऋषियों का यह दिव्य भारत जिसने राम, कृष्ण और बुद्ध को जन्म दिया, जिसने वीर शिवाजी और गुरु गोविन्द को उत्पन्न किया, क्या सदा एक विजेता के सामने झुका ही रहेगा? क्या हम अपने राष्ट्र की नियति को विदेशियों की सनक और स्वार्थभावना का शिकार बना रहने देंगे? अथवा दृढ चित्त होकर जीने के अधिकार के लिए संघर्ष करेंगे, ताकि संसार में अपना ईश्वर-निर्दिष्ट लक्ष्य सिद्ध कर सकें?[1]

## राष्ट्रीयता—एक आध्यात्मिक आदर्श

इस तरह श्री अरविन्द की राष्ट्रीयता की धारणा केवल देश प्रेम तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उससे कहीं अधिक गहरी और उदात्त थी। राष्ट्र को एक दैवी सत्ता मानने की अपनी कल्पना के अनुरूप उन्होंने राष्ट्रीयता का एक आध्यात्मिक आदर्श, एक धर्म साधना माना, जो मातभूमि की मुक्ति और स्वयं साधक की आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है। इस दृष्टिकोण में और उन उदार पंथियों के प्रेरणाहीन दृष्टिकोण में जमीन-आसमान का अन्तर था, जो तुच्छ प्रशासनिक और राजनीतिक सुधारों के लिए लालायित रहते थे। इसलिए यह सहज ही समझा जा सकता है कि इस विचारधारा के सामने सभी पूर्ववर्ती धारणाएँ क्या विलीन हो गई और भारत के राजनीतिक संगठन में किस प्रकार जन-जागरण और नवजीवन का संचार हुआ। बड़ी बात है कि श्री अरविन्द ने अपनी राष्ट्रीयता को सीमित देश भक्ति, या संकुचित पुनर्जागरणवाद में परिणत नहीं होने दिया। उन्होंने भारत की मुक्ति को वस्तुतः केवल इस दृष्टि से अभीष्ट समझा कि भारत मुक्त होकर ही मानव मात्र के आध्यात्मिक गुरुत्व का भार वहन कर सकेगा। इस तरह उनकी राष्ट्रीयता स्वाभाविक रूप से अन्तर्राष्ट्रीयता में विकसित हो जाती है जिसका लक्ष्य मानव-मात्र की एकता का उच्च आदर्श है।

---

[1] वन्दे मातरम् साप्ताहिक संस्करण, सितम्बर १९०७।

विषयान्तर का जोखिम उठाते भी यहा श्री अरविन्द और उनके समकालीन तिलक जैसे अन्य क्रान्तिकारी नेताओ की राष्ट्रीयता के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपो पर विचार करना जरूरी है। कहा जाता है कि उग्र क्रान्तिकारियो ने लोकप्रियता पाने के लिए हिन्दुओ की अन्ध देशभक्ति को उभारा और इस तरह हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच की खाई को गहरा कर दिया जिसका अन्त देश के विभाजन मे हुआ। इसका विस्तृत विश्लेषण इस पुस्तक के विषय-क्षेत्र से बाहर है। यहा इतना ही कहना काफी है कि उग्र क्रान्तिकारियो ने राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रेजी-शिक्षा प्राप्त कुछ बुद्धिजीवियो के सकुचित बुद्धि-विलास के घेरे से निकाल कर जनसाधारण के एक विशाल आन्दोलन मे परिणत कर दिया। यह परिवर्तन लाने म वे अग्रेजो के तीव्र विरोध के बावजूद सफल हुए। परन्तु यदि जनसाधारण को, जिसमे अधिकाश हिन्दू थे, अपने व्यामोह और निद्रा से उद्‌बुद्ध और प्रबुद्ध न किया गया होता तो यह परिवर्तन असम्भव था। उद्‌बोधन भी अन्तरतम का स्पर्श किए बिना असम्भव था और हिन्दू-बहुल प्राचीन सभ्यता के धनी भारत देश मे अन्तरतम का स्पर्श धर्म के माध्यम से ही सम्भव था। क्रान्तिकारी नेताओ मे से अधिकाश गहरे धार्मिक और आध्यात्मिक विश्वास वाले हिन्दू थे, इसलिए स्पष्ट है कि वे धर्मेतर शब्दावली मे जनमानस का स्पर्श नही कर सकते थे। इस तरह क्रान्तिकारियो का उद्‌बोधन हिन्दू जनोन्मुख होते हुए भी भारत के अन्य धर्मो को हीन मानने या उन पर आक्षेप करने की दृष्टि से न था।

इसी सन्दर्भ मे एक बात रोचक और महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीयता के महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए मुसलमानो के सहयोग की अनिवार्यता के विषय मे श्री अरविन्द के विचार बिलकुल स्पष्ट थे। बग-भग विरोधी आन्दोलन के तीव्रतम क्षणो मे उन्होने लिखा था

'अपनी सफलता के लिए राष्ट्रीयता समग्र राष्ट्र की पूरी शक्ति के जागरण और सगठन पर निर्भर है, इसलिए राजनीतिक दृष्टि से पिछडे वर्गो का जगाना और राजनीतिक जीवन की धारा मे पहुँचाना बहुत महत्त्वपूर्ण है। रूढिवादी हिन्दू धर्म का विशाल जनसमूह जिसको

गी जजीरा म बँधी है जा भौतिक दष्टि स सशक्त हान पर भी आध्यात्मिक दष्टि म भारत म बहुत पीछे ह तब तक वह न ता अपन पूण आध्यात्मिक शीप पर ही पहुँच सकता है और न ससार का पथ प्रदशन कर सकता है। वह 'राष्ट्रा के गुरु' के रूप म अपनी पूव निश्चित आध्यात्मिक भूमिका तब तक नही निभा सकता जब तक उसके हाथ-पैर बँध है उसकी महान आत्मा कारारुद्ध है। इसलिए पहली आवश्यकता यह है कि भारत स्वतत्र हो, ताकि वह स्वधम का पूरा कर सके और ससार भर म अपना आध्यात्मिक सन्देश पहुँचा सके। भवानी मदिर म श्री अरविन्द न इस धारणा का बडी स्पष्टता म व्यक्त किया है। उन्हान लिखा है

'भारत का पुनजन्म हाना ही चाहिए, क्याकि ससार के भविष्य का उसके पुनजन्म की आवश्यकता है भारत का नाश नही हो सकता, हमारी जाति का विलाप सम्भव नही, क्याकि भारत की नियति अन्य देशा की तुलना म सबसे ऊँची और सबसे गौरवपूण है, मानव जाति के भविष्य के लिए बहुत जरूरी है। उसी से समग्र विश्व का भावी धम प्रसत हागा। वह एक ऐसा शाश्वत धम हागा जिसम सभी धर्मों, विज्ञाना और दशना का एकत्र समावेश हागा और जा समग्र मानव जाति का एकात्म बना देगा।

अपन उत्तरपुर के प्रसिद्ध भाषण म श्री अरविन्द न घोपित किया था

'यही वह धम है जिसे प्राचीन काल से अब तक इस देश ने मानव जाति के हित के लिए सँजोकर रखा है। इसी धम के प्रचार प्रसार के लिए भारत का अभ्युत्थान हो रहा है। उसका अभ्युत्थान अन्य देशा के समान अपने स्वाथ मात्र के लिए नही है, उसकी शक्ति औरा की तरह *'परेपा परिपीडनाय'* नही है। *वह स्वय को प्राप्त अनन्त प्रकाश को* ससार-भर मे फलान के लिए उठ रहा है। भारत हमेशा अपन लिए नही वल्कि मानव जाति के लिए जीवित रहा है और अपन लिए नही वल्कि मानव-जाति के लिए ही उसका महान बनना अनिवाय है।[1]

---

[1] स्पीचेज श्री अरविन्द प० ६३।

## सच्चा 'स्वराज्य'

इसी भाषण में उन्होंने अलीपुर जेल में रहते समय मार्ग-दर्शन के लिए की गई अपनी प्रार्थनाओं का उल्लेख करते हुए कहा कि उन्हें यह दिव्य उत्तर मिला 'मैं अपने सन्देश के प्रसार के लिए इस राष्ट्र को जगा रहा हूँ।' श्री अरविन्द के इस सिद्धान्त को और स्पष्ट करने के लिए कि ईश्वर-प्रेषित आध्यात्मिक सन्देश के प्रसार का कार्य पूरा करने के लिए भारत की स्वतन्त्रता आवश्यक है, ३ मई सन् १९०८ के 'वन्दे मातरम्' के साप्ताहिक संस्करण के सम्पादकीय की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं 'पूर्ण स्वराज्य का विचार राष्ट्रीय जन मानस के लिए आकर्षक है। यदि पाश्चात्य भौतिकवाद के स्थूल रंग से मुक्त और शुद्ध भारतीय भावनाओं से परिपूर्ण मन से इस विचार को लोक मानस के समक्ष प्रस्तुत किया जाए तो उसका प्रभाव अजेय होगा। राजनीतिक स्वाधिकार के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता वाला यूरोपीय आदर्शों का स्वराज भारत का उद्बोधन नहीं कर सकता। आधुनिक परिवेश में भारत की प्राचीन जीवन पद्धति का सफल समावेश, राष्ट्रीय गरिमा वाले 'सत्य युग' का पुनः प्रवर्तन, जगतगुरु और पथप्रदर्शक के पद पर अपनी पुनः स्थापना, राजनीति में भी वैदान्तिक आदर्शों की पूर्ण सिद्धि के लिए जनता की आत्म मुक्ति—यही भारत का सच्चा स्वराज है। पश्चिम के सभी दम्भी राष्ट्रों का अन्त निश्चित है। मानव-जाति के लिए उनका सीमित विशिष्ट काम समाप्त होते ही उनका नाश हो जाएगा और वे तिरोहित हो जाएँगे। लेकिन भारत का काम संसार को प्रकाश और नवजीवन का अनन्त स्रोत देना है। जब-जब आदि तेज का ह्रास होता है और पृथ्वी जराग्रस्त और क्षीण हो जाती है और भौतिकवाद और समाधान-हीन समस्याओं से त्रस्त हो जाती है, तब-तब भारत का काम होता है मानव-जाति में यौवन का पुनः संचार और उसे अमरत्व का दान। वह अपने हृदय से एक प्रकाश विकीर्ण करता है जो पृथ्वी और आकाश दोनों को प्रदीप्त करता है मानव-जाति उसमें स्नान करती है जैसे सन्त जाज ने जीवन-कूप में स्नान करके अपनी लम्बी तीर्थ-यात्रा के लिए शक्ति, आशा और तेज प्राप्त किया था। ऐसा ही समय

अब आ गया है। ससार को भारत की आवश्यकता है—स्वाधीन भारत की। अब उस वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन को ढालना है और विदेशी शक्ति और विदेशी सभ्यता के साये में आक्रान्त रहते हुए वह इसे कर नहीं सकता। जब तक अपने जीवन की व्यवस्था उसके अपने हाथ में न हो तब तक वह ऐसा नहीं कर सकता। उसे अपना जीवन स्वय जीना चाहिए किसी विदेशी साम्राज्य के जीवन का अग बनकर या अधीन रहकर शासित जीवन नहीं।

## आध्यात्मिकता की पुन प्राप्ति

स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के लिए स्वातन्त्र्य केवल राजनीतिक लक्ष्य नहीं था न सवैधानिक व्यवस्था का पुर्ननिरूपण ही था। *वह तो एक मूलभूत आध्यात्मिक अनिवार्यता था, जिसके बिना राष्ट्र* के रूप में भारत केवल नाम शेष रह जाएगा और मानव जाति हमेशा के लिए उस आध्यात्मिक प्रकाश से वचित रह जाएगी जो विदेशी बन्धनों से मुक्त होने पर भारत ससार भर में फैला सकता है। इसी भगिमा में उन्होंने लिखा है

ससार के अन्य समन्नत देशों के साथ सामान्य राजनीतिक सम्बन्ध पुन स्थापित किए बिना अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता को पुन प्राप्त करने की बात तक सोचना मूर्खता है। राष्ट्रीय आन्दोलन का वास्तविक उद्देश्य तो राजनीतिक जागरण को अनिवार्य साधन अपनाकर राष्ट्र की आध्यात्मिक महिमा को पुन स्थापित करना है।"[1]

अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था स्वराज्य औपनिवेशिक प्रशासन या प्रशासन का कोई अन्य रूप नहीं है। वह तो हमारे राष्ट्रीय जीवन की सिद्धि है। हम उसी की खोज में लगे हैं। ईश्वर ने हमें ससार में इसलिए भेजा है कि हम अपने वैयक्तिक जीवन में परिवार में समाज में, राष्ट्र में, और मानव-जाति में अपने निर्धारित काम करके ईश्वर के प्रति खरे उतर सकें। इसी के लिए उसने हमको ससार में भेजा है और यही हमारा अभीष्ट है, क्योंकि पूर्णता ही

[1] वन्दे मातरम १० नवम्बर १९०७।

जीवन है और उसका अभाव ही मृत्यु। हमारा उद्देश्य, हमारा दावा है कि हम राष्ट्र के रूप में मरेंगे नहीं, जीवित रहेंगे।"[1]

अपने आध्यात्मिक आदर्शवाद और विश्व में आध्यात्मिक नव-जागरण में भारत की अपनी नियत भूमिका निभाते देखने की अभि-लाषा के अलावा एक और धर्म निरपेक्ष हेतु से भी उन्होंने पूर्ण स्वातन्त्र्य को अपना राजनीतिक लक्ष्य चुना था। उनका दृढ़ विश्वास था कि विदेशी शासकों से छुटकारा पाए बिना भारत में किसी प्रकार का विकास–आर्थिक सामाजिक, शासन-सम्बन्धी या कोई अन्य–सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक स्वतन्त्रता भारत की सब प्रकार की उन्नति की अनिवार्य शर्त है, इसलिए राजनीतिक स्वतन्त्रता को उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और प्रशासन-सम्बन्धी उन सुधारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जिन पर उदारपंथी नेताओं की नीति की नींव थी। 'वन्दे मातरम'[2] में लिखे लेख में, उन्होंने अपना मत स्पष्ट किया था

राजशक्ति के सहयोग के बिना राष्ट्रीय आत्म-विकास सम्भव नहीं है। राजशक्ति वह संगठित राजनीतिक शक्ति है जो शासन करती है और आवश्यकता पड़ने पर स्वामिभक्ति और आज्ञापालन के लिए बाध्य कर सकती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता राष्ट्र का प्राण है। राजनीतिक स्वातन्त्र्य पाए बिना सामाजिक सुधार शिक्षा-सम्बन्धी सुधार, औद्योगिक विकास जाति का नैतिक सुधार आदि के लिए प्रयत्न करना परले सिरे की अज्ञानता और मूर्खता है। इस तरह के प्रयत्न का विफलता और निराशा में परिणत होना सुनिश्चित है। फिर भी जब निराशा और विफलता का सामना करना पड़ता है, तब हम उन्हें राष्ट्रीय स्वभाव की किसी मौलिक त्रुटि पर मढ़ देते हैं। मानो दोषी सम्पूर्ण राष्ट्र है। इसमें दोष उन थोड़े से बुद्धिमान लोगों का होता है जो सफलता की प्रारम्भिक अपेक्षा तक को समझने में असमर्थ रहते हैं। राष्ट्रीय उन्नति और सुधार की मूलभूत आवश्यकता है स्वतन्त्र और स्वस्थ राष्ट्रीय विचार और कर्म की स्वतन्त्रता,

[1] स्पीचज श्री अरविन्द पृ० ८५–८६।
[2] ६ अप्रैल १९०७।

जो दासता की अवस्था में असम्भव है। इस प्रकार राष्ट्रीय सत्ता के रूप में राष्ट्र की कामना का समन्वय दूसरी आवश्यकता है।'

श्री अरविन्द ने स्पष्ट देखा कि इन सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन ने भारत को नैतिक और भौतिक पतन के गर्त में पहुँचा दिया है। उन्होंने लिखा

'नौकरशाही प्रशासन के कारण हम भौतिक और नैतिक दृष्टि से चुक गया है क्षत हो गया है। दासता की अवस्था और अधिक बनी रही तो परिणाम होगा सदियों लम्बी मृत्यु निद्रा। ऐसी नींद से कोई राष्ट्र मुश्किल से जागता है और जागता है तो सर्वथा दुर्बल, अशक्त और राष्ट्रों की पंक्ति में अपने उच्च पद पर बैठने में असमर्थ बनकर।'[1]

इस तरह भारत केवल उन तुच्छ सुधारों की भीख नहीं माँग सकता जिनके लिए, उनके कटु शब्दों में उदारपंथियों ने पचास साल निरर्थक खो दिए थे। ये सुधार विदेशी शक्ति और विदेशी संस्कृति की दासता के आधारभूत ढाँचे को ज्यों का त्यों बना रहने देते थे। तात्कालिक समस्या थी भारत के राजनीतिक क्षेत्र में होनेवाले क्षरण को कैसे रोका जाए, या उन्हीं के शब्दों में 'आसन्न राष्ट्रीय मृत्यु को कैसे टाला जाए इस श्वेत महामारी का अन्त कैसे किया जाए, हम अपना अधिकार कैसे स्थापित करें और कैसे जिएँ ?'[2] इसलिए राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की उपलब्धि की दिशा में सभी शक्तियाँ लगा देनी चाहिए और ऐसे आदर्शों की खोज में मार्ग भ्रष्ट नहीं होना चाहिए जो मूल समस्या का स्पर्श तक नहीं करते।

## एकमात्र आदर्श

इस दृष्टिकोण में उनका दृढ़ विश्वास था। यही कारण है कि वह उदारपंथियों और उनकी तुच्छ माँगों का तिरस्कार और उपहास करते थे। उस समय की विकट परिस्थितियों में उदारपंथी उनकी दृष्टि

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस श्री अरविन्द पृ० ३३।

[2] वही पृ० २६।

मे राष्ट्रद्रोही से कम नही थे। अपने एक भाषण[1] मे उन्होने कहा था

'हमारा आदर्श पूर्ण स्वराज अर्थात् विदेशी आधिपत्य से मुक्त निरपेक्ष स्वायत्त शासन है। हमारी मान्यता है कि हर राष्ट्र को अपने स्वभाव और आदर्शों के अनुसार, अपनी ही शक्तियो के उपयोग से अपना जीवन विकास का पूरा अधिकार है। हमारे ऊपर एक निकृष्टतर सभ्यता लादने, अपनी अधिक योग्यता का तर्कहीन आधार बताकर हमारे उत्तराधिकार से हमको वचित रखने के विदेशियो के दावे को हम स्वीकार नही करते। हम मानते है कि दीर्घकालीन दासता के कारण हमारी जन्मजात योग्यता और शक्ति का क्षय हुआ है और कुछ दोष उत्पन्न हुए है, पर हम जानते है कि उस योग्यता और शक्ति का पुनर्जागरण हमारे भीतर हो रहा है। हमे बस कार्य-क्षेत्र और अवसर चाहिए। यह क्षेत्र और अवसर राष्ट्रीय शासन, स्वतन्त्र समाज और महान भारतीय सस्कृति ही दे सकती है। जब तक ये हमे नही मिल जाते, तब तक हमारी बुद्धि, साहस और योग्यता का एकमात्र उपयोग है उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर सघर्ष।'

नेशनलिस्ट दल और श्री अरविन्द द्वारा सम्पादित 'वन्दे मातरम' की मुख्य उपलब्धियो मे से एक यह है कि उन्होने पहली बार भारतीय जनता के सम्मुख पूर्ण स्वराज का सशक्त और उत्साहवर्द्धक आदर्श रखा। सम्मान्य उदारपथी नेतागण इस या उस गौण सुधार के लिए जोर देते रहे जबकि राष्ट्रवादियो ने समस्या के मूल को पकडा और जनता का हृदय जीत लिया। श्री अरविन्द ने अपने पक्ष का प्रतिपादन इस तरह किया कि बग भग का प्रश्न पृष्ठभूमि मे चला गया और जैसा कि प्रोफेसर पी० सी० चक्रवर्ती ने कहा है

प्रश्न यह नही था कि ब्रिटिश शासन के अधीन बगाल एक अविभक्त प्रान्त रहे या दो विभक्त प्रान्तो मे बँट जाए, वरन् यह था कि बगाल मे या देश के किसी भी प्रान्त मे ब्रिटिश शासन बना रहे या नही।'[2]

---

[1] स्पीचेज श्री अरविन्द पृ० १४०–४१।

[2] 'श्री अरविन्द ऐंड द इण्डियन नेशनल मूवमेंट नामक लेख जो 'लविंग होमेज' पृ० २७०–२८७ मे प्रकाशित है।

इस प्रकार बंगाल के बंग भंग से उत्पन्न शान्ति काल को उपयुक्त अवसर मानकर श्री अरविन्द की राजनीतिक प्रतिभा ने विदेशी शासन से सर्वथा मुक्त, स्पष्ट, असंदिग्ध, निश्चित और पूर्ण स्वराज्य का प्रेरणाप्रद आदर्श अपने देशवासियों के सामने रखा। सन् १९०६ में एक भाषण में उन्होंने कहा था[1]

'हम पूर्ण स्वराज के सन्देश का प्रचार करते हैं। कई लोग स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करने से डरते हैं, लेकिन मैंने हमेशा इसी का प्रयोग किया है क्योंकि अपने देश की स्वतन्त्रता की आकांक्षा मेरे जीवन का मूल मन्त्र है।'

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह स्पष्ट है कि पूर्ण स्वराज के सिद्धान्त को सामने लाने में राष्ट्रवादियों ने भारत की स्वतन्त्रता के प्रति अमूल्य सेवा की थी। लेकिन उस समय उन्हें न केवल अंग्रेजों का कोपभाजन बनना पड़ा (जो आशानुकूल ही था), बल्कि उन उदारपंथियों का भी रोषपात्र बनना पड़ा, जिन्होंने उन पर यह आरोप लगाया कि वह अन्य तात्कालिक आवश्यक मसलों की उपेक्षा करके एक सर्वथा काल्पनिक और अव्यावहारिक सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं। इस आरोप पर श्री अरविन्द का जवाब बिलकुल स्पष्ट और सुनिश्चित था। उन्होंने लिखा

'देश की दूसरी आवश्यकताओं की ओर से आँखें मूँद कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर राष्ट्रवादी अपना पूरा जोर इसलिए नहीं दे रहे हैं कि वे आर्थिक पुनरुद्धार, सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा के महत्त्व से अनभिज्ञ हैं बल्कि इसलिए दे रहे हैं कि उनकी दृष्टि में समानता के आदर्श को पूर्ण रूप में सफल बनाने के लिए देश का राजनीतिक स्वातन्त्र्य और स्वशासन पहली शर्त है।'[2]

भविष्य की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि श्री अरविन्द ने भारत के राजनीतिक प्रश्न के सार को कितना ठीक समझा था। इतिहास के प्रवाह में उदारपंथी तो बह गए, पर क्रान्तिकारी दल अपने जीवन काल में ही अपने लक्ष्य की दिशा में अप्रतिरुद्ध आगे बढ़ता गया।

[1] झलकाटी (बारीसाल) में दिया गया भाषण जून १९०७।
[2] 'वन्दे मातरम्' साप्ताहिक संस्करण २२ सितम्बर १९०७।

खड ४

# क्रान्तिकारी नेता श्री अरविन्द

## उनकी राजनीतिक कार्य-विधि

अध्याय १०

# राजनीतिक कार्य-विधि के प्रति श्री अरविन्द का दृष्टिकोण

'आदर्श अपने में सच्चा हो और जाति की नियति में उसकी जड़ें हों तो अपनी पूर्ति के साधन वह स्वयं उत्पन्न कर लेता है।'[1]

आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के आदर्श आधार पर स्थापित श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धान्तों की दार्शनिक पृष्ठभूमि का अवलोकन पिछले अध्याय में किया गया। इसी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के कारण उन्होंने अपने राजनीतिक प्रयत्नों का लक्ष्य निर्धारित किया था–विदेशी आधिपत्य से मातृभूमि की पूर्ण मुक्ति। श्री अरविन्द का योगदान केवल इस आदर्श और लक्ष्य के सर्वांगीण सैद्धान्तिक प्रतिपादन तक ही सीमित रहा होता तो भी वह आधुनिक भारत के राजनीतिक चिन्तकों में मान्य स्थान के अधिकारी होते। श्री अरविन्द ने तो इससे आगे भी बहुत कुछ किया। उन्होंने राजनीतिक कारवाई का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया ताकि लक्ष्य की सिद्धि हो सके और इसी उद्देश्य से व्यावहारिक राजनीतिक कार्यविधि पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा और भाषणों में कहा। इस तरह वह राजनीतिक इतिहास के विरले नेताओं में एक थे—एक गम्भीर सिद्धान्तवादी, जो एक चतुर और कुशाग्र बुद्धि वाले राजनीतिक रणनीतिज्ञ भी थे।

इस खंड में हम श्री अरविन्द की राजनीतिक क्रियाविधि का अध्ययन करने की कोशिश करेंगे। इसके अनेक पहलू हैं, इसलिए इसका अध्ययन विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत करना ही ज्यादा अच्छा होगा। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आध्यात्मिक खोज

---

[1] वन्दे मातरम् साप्ताहिक संस्करण ३ मई १९०८।

की तरह राजनीति मे भी श्री अरविन्द का दृष्टिकोण समग्र और समन्वयात्मक था। उनकी विधि के विभिन्न पक्षो का निरीक्षण चाहे हम अलग-अलग ही करे पर है वे राजनीतिक प्रश्न के प्रति उनके समग्र तर्कसंगत दृष्टिकोण के विभिन्न अग ही।

श्री अरविन्द की राजनीतिक क्रिया विधि का सविस्तार अध्ययन करने से पहले उन उपायो पर ध्यान दे, जिनकी उन्होने बडी आलोचना की और जिनसे वे सहमत नही थे। उदारपथियो की अग्रेजो के साथ सम्बन्धो की नीति को श्री अरविन्द ने 'प्रार्थना, याचिका और विरोध' की दिवालिया नीति बताकर भर्त्सना की है। उदारपथियो का राजनीतिक लक्ष्य उग्रवादियो के लक्ष्य की तुलना मे प्रेरणाहीन और साहसहीन था। उनके लक्ष्य थे—विधान सभाओ के लोकप्रिय प्रतिनिधित्व का विस्तार इडियन सिविल सर्विस और भारतीय सेना अफसर कोर के अधिक भारतीयकरण, सीमा शुल्क बढाकर भारतीय उद्योग धन्धो का विदेशी प्रतियोगिता से रक्षण, भारतीय प्रजा की आवश्यकताओ के प्रति ब्रिटिश शासनाधिकारियो की सजगता, और इसी प्रकार की कुछ अन्य बाते। ये सभी अभीष्ट और प्रशसनीय तो थी पर उग्रवादियो के पूर्ण स्वातन्त्र्य सिद्धान्त की तुलना मे इनका कार्य क्षेत्र बहुत सीमित था। इन लक्ष्यो की सिद्धि का तर्कसगत मार्ग यही था कि वे उदारवादी अग्रेजो की सहायता पर निर्भर रहे और अपने किसी कार्य या कथन से उन्हें रुष्ट न करे। इसीलिए उग्रवादी दल के जन्म से पहले काग्रेस के सभी प्रस्ताव अग्रेजो के स्तुति-गानो से भरे होते थे और उनके शासन से भारत को प्राप्त लाभो की भूरि भूरि प्रशसा होती थी। इन अभिव्यक्तियो के साथ वे बडी हिचक के साथ, लगभग क्षमा प्रार्थना की मुद्रा मे, बहुत ही सीमित राजनीतिक मांग रखते थे।[1] ऐसी बातो मे श्री अरविन्द बहुत कुपित होते थे।

---

[1]उदाहरण के लिए, सन १९०८ मे सूरत मे एक साल पहले क्रान्तिकारियो के काग्रेस से अलग हो जाने के बाद उदारवादी-बहुल काग्रेस ने निम्न दुलमुल प्रस्ताव पास किया था इडियन नेशनल काग्रेस न्यायमय सम्राट के प्रति सच्चा सम्मान प्रकट करते हुए महिमामयी माता विक्टोरिया रानी की सन् १८५८ मे निकाली गई स्मरणीय राजाज्ञा की ५०वी वर्षगाँठ पर भारत के राजाओ और प्रजाजनो का

उन्होंने दृढ और कटु शब्दों में इस दृष्टिकोण का तिरस्कार किया, क्योंकि उसमें पहल सदा अंग्रेजों की ओर से होने को थी। नीति-कौशल के रूप में विदेशी शासक कभी-कभी गौण सुधारों और रियायतों के टुकड़े फेंक देते थे, जिन्हें पाकर ये उदारपंथी सन्तोष और कृतज्ञता प्रकट करते हुए हर्ष से फूट पड़ते थे।

## सशक्त नीति

'इन्दु प्रकाश' में प्रकाशित श्री अरविन्द के आरम्भिक राजनीतिक लेखों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि शुरू से ही उन्होंने समझ लिया था कि यदि भारत को विदेशी शासकों से कुछ लेना है तो उसे अपने संघर्ष और बलिदान पर ही निर्भर रहना पड़ेगा, शासकों से दया की भीख मांगने की अपेक्षा अपनी अन्तर्निहित महान शक्ति को ही उद्बोधित करना पड़ेगा। इसीलिए उन्होंने अपने साथी और मित्र श्री विपिन चन्द्र पाल समेत अन्य भारतीय नेताओं की उस नीति को अस्वीकार किया जिसमें कहा गया था कि भारतीय नेता इंग्लैण्ड जाएँ और वहां की जनता की भावना अपने पक्ष में करें। यह सोचना गलत था, क्योंकि केवल शब्दों से प्रभावित होकर अंग्रेज भारत में अपने राजनीतिक और आर्थिक हित छोड़ने के लिए नहीं राजी हो सकते थे। उन्होंने इस कल्पना को भ्रान्त बताया कि 'इंग्लैण्ड में कांग्रेस की बैठक करने और भाषण देने से भारत की स्थिति से अनभिज्ञ

---

चक्रवर्ती नरेश द्वारा भेजे गए सन्देश का सादर स्वागत करती है। कांग्रेस अपनी प्रसन्नता प्रकट करने की इजाजत मांगती है कि सन '१८५८ के महान चार्टर' में बताई शर्तों की हमारी व्याख्या का सम्राट ने समर्थन कर दिया है।

यह कांग्रेस सम्राट् की इस घोषणा का कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करती है कि अब वह समय आ गया है जब भारत में पहले से स्थापित प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्तों का समझदारी से विस्तार हो सकेगा और ब्रिटिश शासन द्वारा पोषित और प्रोत्साहित विचारों के अनुरूप भारत के मुख्य वर्गों को विधान और शासन में अधिक हिस्सा पाने और नागरिकता की समानता का अधिकार मिलेगा। इसमें वर्तमान सरकार और सत्ता दुर्बल नहीं शक्तिमान बनेगी। (इण्डियन नेशनल कांग्रेस के २८ २९ ३० दिसम्बर, १९०८ में मद्रास में हुए २३वें सम्मेलन का प्रथम संकल्प)।

ब्रिटिश जनता भारत की भावना को समझेगी और उसके स्वायत्त शासन की समर्थक बन जाएगी। उन्होंने आगे कहा कि 'केवल राजनीतिक आवश्यकता और परिवर्तनों की अनिवार्यता समझ लेने पर ही इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों का हृदय-परिवर्तन सम्भव है।'[1]

जैसा हम पहले एक अध्याय में श्री अरविन्द के राजनीतिक लक्ष्य के बारे में देख चुके हैं, उनके लिए 'एक ही राजनीतिक प्रश्न था, एक ही लक्ष्य था। यह नहीं कि वर्तमान शासन-तन्त्र का क्रमशः ऐसा सुधार हो कि अन्त में सब कुछ सुधर जाए, बल्कि यह कि भारत में अंग्रेजी और साम्राज्यवादी शासन का स्थान शीघ्र ही भारतीय और राष्ट्रीय शासन ले ले।'[2] उन्होंने आगे कहा है कि 'गुलाम देश धीरे धीरे विकास करके अपने को स्वतन्त्रता के लिए तैयार नहीं करता, वह तो स्वतन्त्रता के माध्यम से शीघ्र प्रगति के द्वार खोलता है।'[3]

अपनी मातृभूमि की इस स्वातन्त्र्य लब्धि के जिन अनेक उपायों

---

[1] कर्मयोगिन, २८ अगस्त १९०९, 'लंदन कांग्रेस' नामक लेख।

९ अक्तूबर १९०९ के 'कर्मयोगिन' में 'नेशनलिस्ट वर्क इन इंग्लैण्ड' भी देखिए।

[2] तिलक की स्पीचेज ऐंड राइटिंग्स, १९१८ की भूमिका। 'बंकिम, तिलक, दयानन्द' में प्रकाशित।

[3] यह उदारपंथियों के क्रमिकवाद के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। इस सिद्धान्त का एक संस्करण सन् १९०७ की सूरत कांग्रेस के अधिवेशन में, जो खलबली में भंग हो गया था, रास बिहारी घोष के अध्यक्षीय भाषण में (जो नहीं सुनाया गया) निहित है। उसमें उदारपंथी नेता ने क्रान्ति दल के नये सदस्यों से निवेदन किया है: 'अपने पथ पर दृढ़ न रहने के लिए मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूं। मृग मरीचिका में अपने को न भुलाइए। शासन का बहिष्कार करके आप ब्रिटिश सरकार का अन्त नहीं कर सकते। वर्तमान परिस्थितियों में अपना उद्देश्य-पूर्ति के लिए आपके सामने एक ही रास्ता है कि आप सरकार के साथ हर उस बात पर सहयोग करें जो हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता की ओर ले जाने वाली हो। जब तक हम अपने को उसके योग्य सिद्ध नहीं कर देते तब तक हमें सरकार पर ही भरोसा रखना होगा। इंग्लैण्ड अपना शासन कायम रखेगा ही और यदि सचमुच आप स्वशासन चाहते हैं तो पहले स्वयं को उस उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध कीजिए। केवल तभी अंग्रेज अपना काम पूर्ण रूप में सम्पन्न मानकर और अपना कर्तव्यपालन पूरा हुआ समझकर भारत छोड़ कर जाएंगे।'

का समर्थन श्री अरविन्द ने किया था, उनका विस्तृत पुनर्निरीक्षण नीचे दिए शीर्षकों के अधीन किया जा सकता है। प्रत्येक शीर्षक उनकी राजनीतिक क्रिया-विधि के एक पृथक पहलू पर प्रकाश डालता है राष्ट्रीय भावना और भारत की महान सांस्कृतिक परम्परा के प्रति गौरव का पुनर्जागरण, सीधी क्रान्तिकारी कारवाई, सशस्त्र विद्रोह और आतंकवाद, सत्याग्रह और बहिष्कार। इस अन्तिम क्रिया विधि की कई उप विधियाँ भी हो सकती हैं, जैसे

(१) आर्थिक बहिष्कार और स्वदेशी।
(२) शिक्षा सम्बन्धी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा।
(३) न्यायालयों का बहिष्कार और राष्ट्रीय मध्यस्थ न्यायालयों की स्थापना।
(४) कार्यकारिणियों का बहिष्कार और राष्ट्रीय संगठन।
(५) सामाजिक बहिष्कार।

अध्याय ११

# भारत की राष्ट्रीय भावना का पुनर्जागरण

भारत की स्वतन्त्रता सम्भव हो सके, इसके लिए जरूरी था कि जनता का बड़ा भाग उस शिद्दत से चाहे और उसके लिए सब-कुछ त्याग करने को तैयार रहे। यह विश्वास भी आवश्यक था कि सही अर्थों में प्रयास करने पर विजय की पर्याप्त सम्भावना है। अब भारत को आजाद हुए दो दशक से अधिक समय हो गया है। हम सहज स्वीकार कर लेते हैं कि भारत स्वतन्त्रता का वस्तुतः पात्र है लेकिन बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में देश में उत्साहहीनता और निराशा का साम्राज्य था और ब्रिटिश शासन से छुटकारा पाने की बात तक को मूर्खता भरी अव्यावहारिकता मानने वाले लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। इसलिए श्री अरविन्द और उनके साथ के राष्ट्रवादियों की पहली और आधारभूत लड़ाई अपने देशवासियों की इस मानसिक बाधा के विरुद्ध थी। जैसा कि उन्होंने लिखा है

'अपने देश को स्वतन्त्र करने से पहले हमें अपने हृदय में स्वतन्त्रता का अनुभव करना चाहिए।'[1]

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सबसे स्पष्ट कार्य प्रणाली यह थी कि भारतीयों के मन में अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्कृष्ट सांस्कृतिक परम्परा के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न हो, ज्ञान हो कि अतीत में भारत उत्कर्ष के कितने ऊँचे शिखर पर पहुँचा था, राजनीतिक और सामाजिक संगठन, कला और वास्तु, साहित्य और विद्या के क्षेत्र में उसकी कितनी महान उपलब्धियाँ थीं तथा धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उसका कितना अनुपम योगदान था।

---

[1] वन्दे मातरम साप्ताहिक संस्करण १२ अप्रैल १९०८।

इस पुस्तक में हम पहले देख चुके हैं कि उन्नीसवीं सदी के मध्य में बंगाल में भारतीय चिन्तन का पुनर्जागरण हुआ और बड़े-बड़े चिन्तकों और नेताओं ने भारतीयों को उनके उत्कृष्ट अतीत में पुनः परिचित कराया और श्रेष्ठतर भविष्य का स्वरूप उनके सामने प्रस्तुत किया। राजा राममोहन राय, बंकिमचन्द्र चटर्जी और दूसरे लोगों ने सामाजिक और साहित्यिक नवजागरण को जन्म दिया। महात्मा रामकृष्ण परमहंस और उनकी शिष्यमंडली (जिसमें प्रमुखतम नाम स्वामी विवेकानन्द का है), स्वामी दयानन्द सरस्वती और महाराष्ट्र के आध्यात्मिक नेताओं ने आध्यात्मिक पुनरुद्धार के द्वार खोले। इस राष्ट्रीय नवजागरण और उसके आध्यात्मिक-बौद्धिक पुनर्जन्म को राष्ट्रवादी नेताओं ने एक कदम और आगे बढ़ाया और वे पहली बार आशा और मुक्ति का सन्देश जन-समुदाय तक पहुँचाने में सफल हुए। बाल गंगाधर तिलक को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए श्री अरविन्द ने इस उपलब्धि का वर्णन किया है, जिसमें स्वयं उनका अपना भी महत् योगदान था। उनके शब्दों में

## कांग्रेस-आन्दोलन

'बहुत समय तक कांग्रेस आन्दोलन की प्रवृत्ति मनसा, वचसा और कर्मणा पाश्चात्य थी। वह थोड़े-से अंग्रेज़ीविद् लोगों तक सीमित था। उसकी आधारशिला अंग्रेज़ी इतिहास और यूरोपीय आदर्शों के प्रकाश में पढ़े लिखे लोगों की राजनीतिक अधिकारों और हितों की धारणा थी। पर उसकी जड़ें देश के अतीत में या राष्ट्र की आन्तरिक आत्मा में निहित नहीं थीं। श्री तिलक पहले राजनीतिक नेता थे जिन्होंने कांग्रेस की सद्धान्तिक शास्त्र चर्चा मात्र तक सीमित रहने वाली कार्य प्रणाली को तिलांजलि दी, अतीत और वर्तमान के बीच की खाई को पाटा और राष्ट्र के राजनैतिक जीवन में निरन्तरता का आविर्भाव किया। उन्होंने एक विशिष्ट भाषा और भावना का विकास किया और ऐसी पद्धतियों को अपनाया जिनसे आन्दोलन का भारतीयकरण हुआ और वह जनमानस तक पहुँचा।'[1]

[1] 'इंट्रोडक्शन टु स्पीचेज़ ऐण्ड राइटिंग्स आफ तिलक' १९१८, मंत्रिम तिलक-व्याख्यान' में प्रकाशित।

आगे इसी लेख में राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के मर्म का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है

'भारत में एक महान और शक्तिशाली राष्ट्रीय जागरण के लिए अनिवार्य अपेक्षाएँ है उसमे जनसाधारण का योग हो, अतीत के गौरव की नीव पर भविष्य की गरिमा की आधार-शिला रखी जाए और भारतीय राजनीति को भारत के ही धार्मिक उत्साह और आध्यात्मिकता से अनुप्राणित किया जाए।

अपने लेखो द्वारा श्री अरविन्द ने इस राष्ट्रीय नव उत्थान में सशक्त सहयोग दिया। उनकी रचनाएँ अंग्रेजी में थी, अत उनका सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियो पर ही पडा।[1]

---

[1]उनके अन्यतम योगदान के बारे में उनके समकालीन महापुरुष विपिन चन्द्र पाल ने अपनी पुस्तक इंडियन नेशनलिज्म इट्स परसनलिटीज ऐण्ड प्रिंसिपिल्स में लिखा है

भारत में राष्ट्रीयता का प्रचार करने वाले अगली पंक्ति के लोगों में आयु में सबसे छोटे किन्तु प्रतिभा शिक्षा और चरित्र में शायद उन सब बड़े अरविन्द हैं। कदाचित नियति ने उन्हें आन्दोलन का भावी रूप स्थिर करने के लिए भेजा है। इस काम के लिए उनके सहयोगियों और समकालीनों में किसी अन्य को नियति ने नहीं चुना राष्ट्रवादी धारा का अपना कोई दैनिक अंग्रेजी समाचारपत्र नहीं था। एक नया पत्र निकाला गया। अरविन्द को उसमें काम करने का आमंत्रण दिया गया। उसको चलाने के लिए एक संयुक्त पूंजी-समिति बनाई गई और अरविन्द उसके एक डायरेक्टर (निदेशक) बने। इस पत्र वन्दे मातरम् का भारतीय पत्रकारिता में तत्काल एक मान्य स्थान प्राप्त हुआ। उसे शुरू से ही अरविन्द की प्रतिभा का स्पर्श मिला। निर्भीक दृष्टिकोण ओजपूर्ण चिन्तन स्पष्ट विचार हृदयस्पर्शी शैली तीखा व्यंग्य और परिमार्जित वाक् चातुर्य सभी में वह अद्वितीय था। देश का कोई भी भारतीय या ऐंग्लो इंडियन समाचारपत्र उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। उससे प्रेरित होकर हर बंगला अखबार का स्वर बदल गया और विरोधी ऐंग्लो इंडियन सम्पादक भी उसकी प्रशंसा करने को बाध्य हो गए। केवल कलकत्ता का ही नहीं देश भर का शिक्षित समाज समसामयिक उत्तेजक प्रश्नों पर उस पत्र के विचारों की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगा वह देश का एक ऐसी शक्ति बन गया जिसके प्रति कितना ही भय या घृणा की भावना के बावजूद जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी और अरविन्द ही उस पत्र का केन्द्र बिन्दु उसकी नेतृत्व करनेवाली आत्मा थे।

सन् १९१० के पहले उनके उत्कृष्ट अग्रलेख पहले 'वन्दे मातरम्' में फिर 'कर्मयोगिन' में प्रकाशित होते थे। उनमें विविध विषयों पर साधिकार विचार किया जाता था और सबको श्री अरविन्द के भारतीय संस्कृति के गहन ज्ञान का स्पर्श मिलता था। चाहे आदि आर्यो के सामाजिक संगठन से सम्बद्ध विषय हो, चाहे भारतीय कला की श्रेष्ठ उपलब्धियों के विषय में लिखना हो, चाहे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न विचारणीय हो—सभी में उन्होंने अपने पाठकों को भारतीय दर्शन की उत्कृष्टता और मौलिकता से परिचित कराने का यत्न किया और जोर दिया कि किसी भी विषय में अंग्रेज विचारकों की उपलब्धि भारतीय चिन्तकों से बढकर नही हो सकती। उदाहरण के लिए, 'बहिष्कार उत्सव'[1] पर लिखते हुए उन्होंने प्रमुख राष्ट्रीय पर्वों के महत्त्व का प्रतिपादन किया और बताया कि वे 'राष्ट्रीय जीवनी-शक्ति' के प्रतीक हैं और 'राष्ट्रीय पुनरुत्थान के आदि आन्दोलन' हैं। उन्होंने महाराष्ट्र में तिलक द्वारा आरम्भ किए 'गणपति महोत्सव' और 'शिवाजी महोत्सव' का अनुमोदन किया, जिन्होंने अपनी परम्परा के प्रति नया अभिमान उत्पन्न करके जनता को अनुप्रेरित किया था और भविष्य की नई झाकी दिखाई थी। इसी तरह अंग्रेजों द्वारा भारत के और संसार के सामने रखे गए भारत के एकपक्षीय और विकृत इतिहास को उन्होंने निरर्थक बताया और भारतीय जाति की महिमा और उपलब्धियों को उजागर करने के लिए भारतीय इतिहास की नयी व्याख्या करने की आवश्यकता पर जोर दिया।

## श्री अरविन्द असाधारण पारखी

स्मरणीय है कि श्री अरविन्द कोई अपरिपक्व, असन्तुलित, संकुचित पुनरुद्धारक मात्र नही थे, उनके लिए सब-कुछ देशी अच्छा और सब-कुछ विदेशी बुरा नही था। इसके विपरीत उनको इस बात का स्पष्ट ज्ञान था कि उनका देश किस अतल में पहुँच चुका है और उसकी

[1] कर्मयोगिन १८ अगस्त १९०६।

[2] देखिए 'सुप्रभात' कर्मयोगिन १४ अगस्त १९०६।

आगे इसी लख मे राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के मम का परिचय देत हुए उहाने लिखा है

'भारत मे एक महान और शक्तिशाली राष्ट्रीय जागरण क लिए अनिवाय अपेक्षाएँ ह उसमे जनसाधारण का याग हो, अतीत के गौरव की नीव पर भविष्य की गरिमा की आधार-शिला रखी जाए और भारतीय राजनीति को भारत के ही धार्मिक उत्साह और आध्यात्मिकता से अनुप्राणित किया जाए।

अपन लखो द्वारा श्री अरविन्द न इस राष्ट्रीय नव उत्थान म सशक्त सहयाग दिया। उनकी रचनाएँ अग्रेजी म थी, अत उनका सवसे अधिक प्रभाव अग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियो पर ही पडा।[1]

---

[1]उनके अयतम यागदान के बारे म उनके समकालीन महापुरुष विपिन चद्र पाल न अपनी पुस्तक इडियन नेशनलिज्म इटस परसनलिटीज ऐण्ड प्रिंसिपिल्स म लिखा है

भारत म राष्ट्रीयता का प्रचार करन वाल अगला पक्ति क लोगा म आयु म सबस छाटे *किन्तु प्रतिभा शिक्षा और चरित्र म शायद उन सब बडे अरविन्द* हैं। कदाचित नियति ने उन्हें आन्दालन का भावी रूप स्थिर करन के लिए भजा है। इस काम क लिए उनके सहयागियो और समकालीना म किसी अय का नियति न नही चुना राष्ट्रवादी धारा का अपना काइ दनिक अग्रेजी समाचारपत्र नहा था। एक नया पत्र निकाला गया। अरविन्द का उसम काम करन का आमत्रण दिया गया। उसका चलाने क लिए एक सयुक्त पूजी-समिति बनाई गई और अरविन्द उसके एक डायरेक्टर (निदेशक) बने। इस पत्र वन्दे मातरम को भारतीय पत्रकारिता म तत्काल एक मान्य स्थान प्राप्त हुआ। उस शुरु स ही अरविन्द की प्रतिभा का स्पश मिला। निर्भीक दष्टिकाण ओजपूण चिन्तन स्पष्ट विचार हृदयस्पर्शी शली तीखा व्यग और परिमार्जित वाक चातुय सभी म वह अद्वितीय था। देश का कोई भी भारतीय या ऐंग्लो इडियन समाचारपत्र उसकी बराबरी नही कर सकता था। उससे प्रेरित हाकर हर बगला अखबार का स्वर बदल गया और विरोधी ऐंग्लो इडियन सम्पादक भी उसकी प्रशसा करन का बाध्य हा गए। केवल कलकत्ता का हा नही देश भर का शिक्षित समाज समसामयिक उत्तेजक प्रश्नो पर उस पत्र क विचारा की उत्सुकता म प्रतीक्षा करन लगा वह देश की एक एसी शक्ति बन गया जिसक प्रति कितना हा भय या घृणा की भावना क बावजूद जिसकी उपक्षा नहा की जा सकती थी और अरविन्द ही उस पत्र का कद्र बिदु उसका नेतत्व करनवाली आत्मा थ।

सन १९१० के पहले उनके उत्कृष्ट अग्रलेख पहले 'वन्दे मातरम्' मे फिर 'कर्मयोगिन' मे प्रकाशित होते थे। उनमे विविध विषयो पर साधिकार विचार किया जाता था और सबको श्री अरविन्द के भारतीय संस्कृति के गहन ज्ञान का स्पर्श मिलता था। चाहे आदि आर्यो के सामाजिक संगठन मे सम्बद्ध विषय हो, चाहे भारतीय कला की श्रेष्ठ उपलब्धियो के विषय मे लिखना हो, चाहे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न विचारणीय हो—सभी मे उन्होने अपने पाठको को भारतीय दर्शन की उत्कृष्टता और मौलिकता से परिचित कराने का यत्न किया और ज़ोर दिया कि किसी भी विषय मे अग्रेज विचारको की उपलब्धि भारतीय चिन्तको से बढकर नही हो सकती। उदाहरण के लिए, 'बहिष्कार उत्सव'[1] पर लिखते हुए उन्होने प्रमुख राष्ट्रीय पर्वों के महत्त्व का प्रतिपादन किया और बताया कि ये 'राष्ट्रीय जीवनी शक्ति' के प्रतीक है और 'राष्ट्रीय पुनरुत्थान के आदि आन्दोलन' है। उन्होने महाराष्ट्र मे तिलक द्वारा आरम्भ किए 'गणपति महोत्सव' और 'शिवाजी महोत्सव' का अनुमोदन किया, जिन्होने अपनी परम्परा के प्रति नया अभिमान उत्पन्न करके जनता को अनुप्रेरित किया था और भविष्य की नई झाँकी दिखाई थी। इसी तरह अग्रेजो द्वारा भारत के और ससार के सामने रखे गए भारत के एकपक्षीय और विकृत इतिहास को उन्होने निरर्थक बताया और भारतीय जाति की महिमा और उपलब्धियो को उजागर करने के लिए भारतीय इतिहास की नयी व्याख्या करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया।[2]

## श्री अरविन्द असाधारण पारखी

स्मरणीय है कि श्री अरविन्द कोई अपरिपक्व, असस्कृत सकुचित पुनरुद्धारक मात्र नही थे, उनके लिए सब-कुछ देशी अच्छा और सब-कुछ विदेशी बुरा नही था। इसके विपरीत, उनको इस बात का स्पष्ट ज्ञान था कि उनका देश किस अधःपतन मे पहुँच चुका है और उसकी

---

[1] कर्मयोगिन १८ अगस्त १९०९।

[2] [illegible] 'कर्मयोगिन' १८ अगस्त १९०९।

आगे इसी लख मे राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के मम का परिचय देते हुए उन्होने लिखा है

'भारत मे एक महान और शक्तिशाली राष्ट्रीय जागरण के लिए अनिवाय अपेक्षाएँ हे उसमे जनसाधारण का योग हो, अतीत के गौरव की नीव पर भविष्य की गरिमा की आधार-शिला रखी जाए और भारतीय राजनीति को भारत के ही धार्मिक उत्साह और आध्यात्मिकता से अनुप्राणित किया जाए।

अपन लखो द्वारा श्री अरविन्द ने इस राष्ट्रीय नव उत्थान म सशक्त सहयोग दिया। उनकी रचनाएँ अंग्रेजी मे थी, अत उनका सवस अधिक प्रभाव अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियो पर ही पडा।[1]

---

[1]उनक अन्यतम योगदान क बार म उनक समकालीन महापुरुष विपिन चन्द्र पाल ने अपनी पुस्तक इडियन नेशनलिज्म इट्स परसनलिटीज एण्ड प्रिंसिपिल्स म लिखा है

भारत म राष्ट्रीयता का प्रचार करने वाल अगली पंक्ति क लोगो म आयु म सबस छोटे किन्तु प्रतिभा शिक्षा और चरित्र म शायद उन सब बडे अरविन्द है। कदाचित नियति ने उन्हें आन्दोलन का भावी रूप स्थिर करने के लिए भजा है। इस काम के लिए उनके सहयोगियो और समकालीनो म किसी अन्य को नियति न नही चुना राष्ट्रवादी धारा का अपना कोइ दनिक अंग्रेजी समाचारपत्र नही था। एक नया पत्र निकाला गया। अरविन्द को उसम काम करने का आमंत्रण दिया गया। उसको चलाने क लिए एक सयुक्त पूजी-समिति बनाई गई और अरविन्द उसक एक डायरक्टर (निदशक) बन। इस पत्र वन्दे मातरम को भारतीय पत्रकारिता म तत्काल एक मान्य स्थान प्राप्त हुआ। उस शुरू म ही अरविन्द की प्रतिभा का स्पश मिला। निर्भीक दृष्टिकोण ओजपूण चिन्तन स्पष्ट विचार हृदयस्पर्शी शली तीखा व्यग और परिमार्जित वाक चातुय सभी म वह अद्वितीय था। दश का कोई भी भारतीय या ऐंग्लो इडियन समाचारपत्र उसकी बराबरी नही कर सकता था। उसस प्ररित होकर हर बगला अखबार का स्वर बदल गया और विरोधी ऐंग्लो इडियन सम्पादक भी उसकी प्रशसा करन को बाध्य हो गए। केवल कलकत्ता का ही नही दश भर का शिक्षित समाज समसामयिक उत्तेजक प्रश्नो पर उस पत्र क विचारो की उत्सुकता म प्रतीक्षा करन लगा वह देश की एक एसी शक्ति बन गया जिसक प्रति कितना हो भय या घृणा की भावना क बावजूद जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती थी और अरविन्द ही उस पत्र का केन्द्र बिन्दु उसको नतत्व करनवाली आत्मा थ।

आग इसी लग्न म राष्ट्रवाद क सिद्धान्त क मम का परिचय दत हुए उल्लेख किया है

'भारत म एक महान और शक्तिशाली राष्ट्रीय जागरण क लिए अनिवाय अपेक्षाएँ ह उसम जनसाधारण का याग हो, अतीत के गौरव की नीव पर भविष्य की गरिमा की आधार-शिला रखी जाए और भारतीय राजनीति का भारत के ही धार्मिक उत्साह और आध्यात्मिकता स अनुप्राणित किया जाए।

अपन लेखा द्वारा श्री अरविन्द न इस राष्ट्रीय नव उत्थान म सशक्त सहयाग दिया। उनकी रचनाएँ अंग्रेजी म थी अत उनका सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीविया पर ही पडा।[1]

---

[1]उनके अयतम याग्दान क बार म उनक समकालीन महापुरुष विपिन चन्द्र पाल न अपनी पुस्तक इंडियन नशनलिज्म इटस परसनलिटीज एण्ड प्रिंसिपिल्स म लिखा है

भारत म राष्ट्रीयता का प्रचार करने वाल अगली पंक्ति क लागा म आयु म सबस छोटे किन्तु प्रतिभा शिक्षा और चरित्र म शायद उन सब बड अरविन्द है। कदाचित नियति ने उन्हें आन्दालन का भावी रूप स्थिर करने के लिए भेजा है। इस काम के लिए उनके सहयागिया और समकालीना म किसी अन्य को नियति न नही चुना राष्ट्रवादी धारा का अपना काइ दनिक अंग्रजी समाचारपत्र नही था। एक नया पत्र निकाला गया। अरविन्द का उसम काम करने का आमन्त्रण दिया गया। उसका चलाने क लिए एक संयुक्त पूंजी-समिति बनाई गई और अरविन्द उसक एक डायरक्टर (निदेशक) बन। इस पत्र वन्दे मातरम का भारतीय पत्रकारिता म तत्काल एक मान्य स्थान प्राप्त हुआ। उसे शुरू से ही अरविन्द की प्रतिभा का स्पश मिला। निर्भीक दृष्टिकाण आजपूण चिन्तन स्पष्ट विचार हृदयस्पर्शी शली तीखा व्यंग और परिमार्जित वाक्‌चातुय सभी म वह अद्वितीय था। देश का कोई भी भारतीय या ऐंग्लो इंडियन समाचारपत्र उसकी बराबरी नही कर सकता था। उससे प्रेरित हाकर हर बंगला अखबार का स्वर बदल गया और विराधी ऐंग्लो इंडियन सम्पादक भी उसकी प्रशंसा करने को बाध्य हा गए। कवल कलकत्ता का ही नही देश भर का शिक्षित समाज समसामयिक उत्तेजक प्रश्ना पर उस पत्र क विचारा की उत्सुकता म प्रतीक्षा करने लगा वह देश की एक ऐसी शक्ति बन गया जिसके प्रति कितनी ही भय या घृणा की भावना के बावजूद जिसकी उपेक्षा नहा की जा सकती थी और अरविन्द ही उस पत्र का कन्द्र बिन्दु उसकी नतत्व करनेवाली आत्मा थ।

सन १६१० के पहले उनके उत्कृष्ट अग्रलेख पहले 'वन्दे मातरम' में फिर 'कर्मयोगिन' में प्रकाशित होते थे। उनमें विविध विषयों पर साधिकार विचार किया जाता था और सबको श्री अरविन्द के भारतीय संस्कृति के गहन ज्ञान का स्पर्श मिलता था। चाहे आदि आर्यों के सामाजिक संगठन से सम्बद्ध विषय हो चाहे भारतीय कला की श्रेष्ठ उपलब्धियां के विषय में लिखना हो, चाहे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न विचारणीय हों—सभी में उन्होंने अपने पाठकों को भारतीय दर्शन की उत्कृष्टता और मौलिकता से परिचित कराने का यत्न किया और ज़ोर दिया कि किसी भी विषय में अंग्रेज विचारकों की उपलब्धि भारतीय चिन्तकों से बढ़कर नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, 'बहिष्कार उत्सव'[1] पर लिखते हुए उन्होंने प्रमुख राष्ट्रीय पर्वों के महत्त्व का प्रतिपादन किया और बताया कि ये 'राष्ट्रीय जीवनी-शक्ति' के प्रतीक हैं और 'राष्ट्रीय पुनरुत्थान के आदि आन्दोलन' हैं। उन्होंने महाराष्ट्र में तिलक द्वारा आरम्भ किए 'गणपति महोत्सव' और 'शिवाजी महोत्सव' का अनुमोदन किया, जिन्होंने अपनी परम्परा के प्रति नया अभिमान उत्पन्न करके जनता को अनुप्रेरित किया था और भविष्य की नई झांकी दिखाई थी। इसी तरह अंग्रेजों द्वारा भारत के और संसार के सामने रखे गए भारत के एकपक्षीय और विकृत इतिहास को उन्होंने निरर्थक बताया और भारतीय जाति की महिमा और उपलब्धियों को उजागर करने के लिए भारतीय इतिहास की नयी व्याख्या करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया।[2]

### श्री अरविन्द असाधारण पारखी

स्मरणीय है कि श्री अरविन्द कोई अपरिपक्व, असंस्कृत संकुचित पुनरुद्धारक मात्र नहीं थे उनके लिए सब-कुछ देशी अच्छा और सब-कुछ विदेशी बुरा नहीं था। इसके विपरीत, उनको इस बात का स्पष्ट ज्ञान था कि उनका देश किस अतल में पहुँच चुका है और उसकी

[1] कर्मयोगिन १४ अगस्त १६०६।

[2] देखिए सुप्रभात कर्मयोगिन १४ अगस्त १६०६।

राष्ट्रीय आत्मा और जीवन म क्या कमिया ह। पर उनकी प्रबल धारणा थी कि यह दुर्भाग्य भारतीय स्वभाव की किसी अन्तर्निहित कमजोरी का परिणाम नही था—जसा अग्रजा न प्राय सिद्ध करना चाहा—बल्कि कुछ अस्थायी प्रतिकूल परिस्थितियाँ इसका कारण रही ह, जिनमे सबमे घातक कारण विदेशी शासन था। उनका विश्वास था कि भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पहली शत उसकी सच्ची सस्कृति का पुनरुद्धार और नवजागरण है और उनके सभी राजनीतिक लेखा का उद्देश्य इस पुनरुद्धार का प्रात्साहित और त्वरित करना था। राजनीतिक विचारा और कार्यों के विषय म श्री अरविद का दृष्टि-कोण आध्यात्मिकताजय था इसलिए जिस नवजागरण की उन्होन कामना की थी वह अध-देशभक्ति मात्र नही बल्कि एक गहरा आध्यात्मिक नवजीवन था। वह लिखते ह

'जिस जाति न अपन राष्ट्र को स्वतन्त्र किया है, उसन सफलता से अभिषिक्त हान से पहले कठिन त्याग की असहनीय पीडा को झेला है और भारत का स्वतत्र कराने के महत्त्वाकाक्षिया का भी पहले माता को उसका मुँह मागा मूल्य देना पडेगा। नवजागरण वस्तुत पुनजम है और पुनजम केवल बुद्धि से नही, आर्थिक समद्धि से नही, किसी सिद्धान्त या नीति से नही, केवल प्रशासन परिवत्तन से नही होता, वह ता एक नया हृदय प्राप्त करन से, यज्ञ की अग्नि मे सवस्व की आहुति देन से और मा के गभ से फिर जम लेने से होता है।'[1]

सन १९१० मे पाण्डिचेरी चले जाने के बाद, करीब चार वप तक, श्री अरविन्द न ज्यादा नही लिखा। फिर १५ अगस्त १९१४ को आय नामक एक पत्रिका प्रकाशित करने लगे, जिसमे कई वर्षो तक वह प्रभूत मात्रा मे लिखते रहे। इसी प्रकाशन के माध्यम से उन्होन अनेक वैविध्यपूण विषया पर अपन विचार प्रकट किए जो सबके सब उनके गहन विस्तृत पाण्डित्य और उनकी समग्र जीवन-दृष्टि के साक्षी हैं। इन सभी विशिष्ट रचनाआ मे उनकी सन १९१० से पूव की

[1] वन्दे मातरम साप्ताहिक सस्करण १२ अप्रल १९०८।

विचारधारा का ही प्रवाह है। भारत की महान सास्कृतिक परम्परा का पुनरुत्थान मानवीय विचार और कार्य के लगभग सभी क्षेत्रो की विशिष्ट उपलब्धियो का पुनर्मूल्याकन और भारतीय सस्कृति के वास्तविक मूल्यो का पुनर्स्थापन उनमे द्रष्टव्य है, क्योकि अज्ञान अथवा द्वेष के कारण पाश्चात्य आलोचको ने सभी की भ्रान्त व्याख्या की थी। १५ दिसम्बर १९१८ से १५ जनवरी १९२१ तक उन्होने एक लेखमाला प्रकाशित की जो 'फाउडेशन्स ऑफ इडियन कल्चर' शीर्षक से पुस्तक के रूप मे छपी। इस रचना मे उन आधारो का अच्छा विश्लेषण है जिन पर भारतीय सभ्यता स्थापित हुई और सदियो के उतार चढाव के बावजूद जीवित रही। अज्ञानजनित, प्राय जानबूझ कर की गई, विद्वेष-पूर्ण टीका टिप्पणियो का, जो उन दिनो के पाश्चात्य पण्डित भारतीय कला और सस्कृति के विरुद्ध अक्सर किया करते थे, खण्डन भी इस कृति मे है। ये लेख विलियम आर्चर की 'इज इडिया सिविलाइज्ड' (क्या भारत सभ्य है?) के जवाब मे लिखे गए थे, जिसमे उसने भारतीय सभ्यता और सस्कृति के सभी पक्षो की कडी आलोचना की थी और उन पर आक्षेप किए थे। इस ध्वसात्मक प्रभाव से भारतीय मानस मे उत्पन्न आत्मग्लानि को दूर करना और भारत की सभ्यता और उसकी महती उपलब्धियो के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन करना श्री अरविन्द का मुख्य ध्येय था। उन्होने 'उन्नीसवी सदी की हमारी राष्ट्रीय कारवाई के तुच्छ, कृत्रिम, अभारतीय और बुर्जुआ आदर्शों' की निन्दा की और इस मूलभूत सत्य पर जोर दिया कि 'यदि भारत को उन्नति करना और बडा राष्ट्र बनना है तो उसे अग्रेजी राजनीति और वाणिज्य के तरीको और सस्थाओ का अनुकरण छोडकर अपनी ही सभ्यता को अपना कर और उस पर छाई हुई कालिमा को धोकर, इतने ऊँचे और शक्ति-सम्पन्न पद पर पहुँचना होगा, जिस पर वह अब तक कभी नही पहुँच पाया है।"[1]

भारतीय सस्कृति के विविध पक्षो के सम्बन्ध मे श्री अरविन्द के इन और दूसरे लेखो का विस्तृत विश्लेषण यहाँ सम्भव नही है।

---

[1]'कर्मयोगिन, २५ सितम्बर १९०९। 'दि पास्ट ऐण्ड फ्यूचर' शीर्षक लेख।

अध्याय १२

# प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी कार्यवाही आतंकवाद और सशस्त्र विद्रोह

श्री अरविन्द ने लिखा है 'किसी पराधीन देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के साधन क्या हों, यह उसकी पराधीनता की परिस्थितियों पर निर्भर है। परतन्त्र राष्ट्र के सामने एक रास्ता है सशस्त्र विद्रोह का। यह एक पुराना समय सिद्ध उपाय है जिसे अन्य उपायों से अच्छा समझकर पराधीन राष्ट्रों ने अतीत में हमेशा अपनाया है और सफलता की आशा होने पर भविष्य में भी अपनाएँगे क्योंकि यह ऐसा साधन है जो सुगमता से सुलभ हो सकता है और बहुत कम समय में बहुत अच्छे परिणाम दे सकता है और इसमें कम से कम सहनशीलता, सहिष्णुता तथा त्याग की आवश्यकता है।'[1] इस अध्याय में हम यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि श्री अरविन्द ने अपने राष्ट्रवादी दल के लिए सत्याग्रह के सिद्धान्त का समर्थन किया, पर इसका कारण यह नहीं था कि उनमें शक्ति के प्रयोग के प्रति कोई नैतिक अरुचि थी, बल्कि इसलिए कि (उन्हीं के शब्दों में) 'भारत की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए हमारा सबसे स्वाभाविक और उपयुक्त हथियार सत्याग्रह ही है।'[2] दूसरे शब्दों में, 'अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में सत्याग्रह का समर्थन उस अवसर विशेष की सर्वोत्तम कुशल रण नीति के रूप में ही उन्होंने किया था।'[3]

---

[1] डाक्ट्रिन आफ पैसिव रेजिस्टेंस, पृष्ठ २८–२९।

[2] वही।

[3] इस सिलसिले में श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। गांधीजी ने अहिंसा को शाश्वत धार्मिक सिद्धान्त के ऊँचे आसन पर पहुँचाने का आयास किया।

श्री अरविन्द ने अपने इस मत को कभी नहीं छिपाया कि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के समर में शक्ति और हिंसा का प्रयोग न्याय-संगत है। ऊपर उद्धृत लेख में उन्होंने यह बात सर्वाधिक स्पष्ट शब्दों में कही है। सत्याग्रह के बारे में अपना मत व्यक्त करने के ठीक बाद ही उन्होंने लिखा 'हमारे इस निष्कर्ष से यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि हम अन्य उपायों को सभी परिस्थितियों में अन्यायपूर्ण और दोष-युक्त मानते हैं। सभी सरकारें, विशेषकर उत्पीडक सरकारें, का सामान्य स्वभाव है कि वे अपने अधीन देशों और जातियों के सभी हिंसात्मक उपायों को क्रूर और अपराध-युक्त करार देती हैं। पर मौका आने पर कोई भी राष्ट्र अत्याचारी के दावे की परवाह नहीं करता और मानवता सामान्यतया इस दृष्टिकोण का अनुमोदन करती है। कुछ परिस्थितियों में नागरिक संघर्ष सचमुच युद्ध का रूप धारण कर लेता है और युद्ध की नैतिकता शान्ति की नैतिकता से भिन्न होती है। ऐसे अवसरों पर हिंसा और रक्तपात से मुँह मोडना निन्दनीय भीरुता है। ऐसी ही स्थिति में जब अर्जुन कुरुक्षेत्र के मैदान में विशाल जनसमूह के हत्याकांड की कल्पना से भीरु बन गए थे, तब श्री कृष्ण ने उन्हें तीखी फटकार दी थी। स्वतन्त्रता राष्ट्र का जीवन प्राण है और जब प्राणों पर ही आक्रमण हो रहा हो, जब गला दबाकर दम घोंटने की कोशिश की जा रही हो, तब आत्म-रक्षा के सभी उपाय न्याय-संगत और उचित हैं, जैसे किसी आदमी का गला घोंटा जा रहा हो तो अपना गला छुडाने के लिए उसका यथाशक्ति हर उपाय करना न्याययुक्त है। दबाव के अनुरूप ही प्रतिरोध भी होता है। जहां रूस के समान कानूनी हत्या और प्रतारणा से बलात् स्वतन्त्रता का अस्वीकार किया जाए या जहां (पहले के) आयरलण्ड की तरह पैशाचिक बल प्रयोग करके दमन किया जाए वहां हिंसा का जवाब हिंसा से देना न्याय-संगत और अनिवार्य है।"[1]

यह उद्धरण राष्ट्रीय समर में हिंसा के प्रयोग पर श्री अरविन्द के मत को स्पष्ट करता है। उनके द्वारा हिंसात्मक उपायों को धिक्कार

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पैसिव रेजिस्टेंस, पृ० २९–३१।

जान का प्रश्न ही नही उठता। यह बात और है कि वह रण नीति के रूप म अन्य उपायो का भी समथन कर। जब 'माँ' पर नशस अत्याचार हो रहे हो और उसका शोषण किया जा रहा हो, जब उसकी महिमा और प्रतिष्ठा मिट्टी मे मिलाई जा रही हो तब उसको इस यत्रणा से छुडान के उपायो के सम्बध म किसी तरह का नतिक सकोच कैसे सम्भव है। माँ के सच्चे भक्त क्षत्रिय की शूरता से वार करेंगे और माता की मुक्ति के लिए किसी भी त्याग को बहुत बडा न समझगे।"[1] इस तरह यह स्पष्ट है कि हिंसा के प्रति श्री अरविन्द का दृष्टिकोण विगत अध्यायो म वर्णित उनकी राष्ट और राष्ट्रीयता की कल्पना के सवथा अनुरूप है।

प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी कारवाई मोटे तौर पर दो वर्गों म रखी जा सकती है—*विदेशी शासको और उनके देशी पिट्ठुओ के विरुद्ध* सगठित सशस्त्र विद्रोह या हत्या और आतक की वैयक्तिक कारवाइया इसमें सन्देह नही कि आरम्भ मे श्री अरविन्द को विश्वास था कि अग्रेजो के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह का सफल सगठन सम्भव है। यह उनके इन शब्दो से स्पष्ट है

'उस समय बडे-बडे साम्राज्यो के सनिक सगठन और उनके सामरिक अभियानो के उपाय उतन व्यापक और जबरदस्त नही थे जितन आजकल हैं। बन्दूक तब भी निर्णायक हथियार था, वायुसेना का विकास नही हुआ था और तोपखाना आज की तरह शक्तिशाली और नाशकारी नही था।' भारत शस्त्रहीन था, लेकिन श्री अरविन्द का विचार था कि 'उचित सगठन और बाहरी सहायता से यह कठिनाई दूर की जा सकती है। वह सोचते थे कि ब्रिटेन की सेनाएँ कम है प्रतिरोध और विद्रोह के साथ-साथ ब्रिटेन की सेनाओ के साथ छापामार

---

[1]'डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस' पृ० ८८ भी देखें न्याय और सत्य की सिद्धि के लिए शूर की तलवार भी उतनी ही आवश्यक है जितनी साधु की पावनता। शिवाजी के बिना रामदास अपूर्ण हैं। न्याय की स्थापना के लिए सबल का परपीडन म रोकने के लिए और निबल की पीडन म रक्षा के लिए ही क्षत्रिय का जन्म होता है।

लड़ाई करके भी सफलता पाई जा सकती है। भारतीय सेना में भी विद्रोह की सम्भावना थी।"[1]

सन् १९०५ में श्री अरविन्द द्वारा लिखित और प्रसारित 'भवानी मंदिर' योजना का आधार यह मान्यता थी कि अंग्रेजों के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह सम्भव है। इस पैम्फलेट में श्री अरविन्द पर बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'आनन्द मठ' का प्रभाव है। योजना यों है 'पार्वत्य प्रदेश के किसी गुप्त स्थान पर भारत मां की प्रतीक भगवती भवानी को अर्पित एक मंदिर बने। इस मन्दिर में एक नये ब्रह्मचारी सम्प्रदाय की स्थापना की जाए। ये ब्रह्मचारी ऐसे युवक तपस्वी हों जो विदेशी शासन से मां की मुक्ति के लिए शरीर और आत्मा से प्रतिबद्ध हों और स्वतन्त्रता के लिए एक राष्ट्रीय आध्यात्मिक पुनर्जन्म और सशस्त्र संग्राम के अग्रज बनें।' यह योजना कार्यान्वित नहीं हुई, पर फिर भी वह अरविन्द के सोचने के ढंग पर काफी प्रकाश डालती है—विशेष कर उनकी इस धारणा पर कि उचित ढंग से आवश्यक संगठन किया जाए तो सशस्त्र विद्रोह सम्भव हो सकता है। 'भवानी मंदिर' पुस्तिका के बारे में रॉलट कमिटी रिपोर्ट[2] में कहा गया है कि 'यह पुस्तक राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धार्मिक आदर्शों के विकृत प्रयोग का एक अपूर्व उदाहरण है। रिपोर्ट में यह मत भी व्यक्त किया गया है कि 'उसमें बंगाल के हिन्दू क्रान्तिकारी आन्दोलन के बीज विद्यमान हैं।'[3]

[1] श्री अरविन्दो ऑन हिमसेल्फ ऐण्ड ऑन द मदर' पृ० ३८–३९।

[2] यह रिपोर्ट इसी नाम से प्रसिद्ध हुई यद्यपि वास्तव में यह उस राजद्रोह समिति की रिपोर्ट (१९१८) थी जिसके अध्यक्ष मान्य जस्टिस रॉलट थे।

[3] प्रो० पी० सी० चक्रवर्ती ने 'श्री अरविन्द ऐण्ड द इंडियन फ्रीडम मूवमेंट' (लर्निंग हार्मेज पृ० २७०–९७) में ठीक ही कहा है कि भवानी मन्दिर के माध्यम से श्री अरविन्द ने धार्मिक आदर्शों का राजनीतिक ध्येय के लिए विकृत करना नहीं बल्कि देश प्रेम को धर्म का रूप देना और हमारे राजनीतिक संघर्ष को आध्यात्मिक आधार देना चाहा था। उनका विश्वास था कि भजे-भजे काम करने वाले राजनीतिज्ञ और वक्ता स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते वह तो ऐसे राजनीतिक सन्यासियों की मंडली ही प्राप्त कर सकेगी जो मातृभूमि के लिए सर्वस्व समर्पित कर दें कष्ट उठाएं और जरूरत पड़ने पर उसके लिए अपनी बलि भी दे दें।

है? पर फिर भी रूस मे जितने बम, पिस्तौल, आतकवादी और गुप्त षड्यन्त्रकारी मौजूद है—वे कहाँ से आते है?"[1]

सरकार ने अनेक क्रान्तिकारी आतकवादी युवको को जेल म ठूँस दिया या फाँसी के फन्दे से लटका दिया। इन युवको के प्रति उनका मत स्पष्ट है। उनका कहना था कि व युवक देश प्रेम के आवेश और आत्म-बलिदान की भावना से अनुप्राणित है, अत प्रशसा क पात्र हैं। वह सरकार की इस राय से हरगिज सहमत नही थे कि क्रान्तिकारी युवक भयानक अपराधी और सभ्य समाज के लिए खतरनाक ह। इसके विपरीत उन्होंने सरकार की दमन नीति को 'आपराधिक व्यय और मूर्खतापूर्ण' ठहराया और कहा कि इस नीति के परिणाम विनाशकारी ही होगे। यह भी स्पष्ट है कि अपने अतिसाहसी भाई वारीन्द्र समेत अनेक प्रमुख क्रान्तिकारियो पर श्री अरविन्द का व्यक्तिगत प्रभाव भी बहुत था। प्रो० हरिदास और प्रो० उमा मुखर्जी न जिन्होंने भारत मे हमारी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की उग्रवादी राजनीति के जन्म और विकास का गहन अध्ययन किया है, लिखा है

'किन्तु वाममार्गी दल म भी सन् १९०६ तक अधिक उग्रवाद विकसित हो गया था और वह आतकवाद का रूप ल रहा था। एक तरह से बगाल के इस नये सम्प्रदाय के आध्यात्मिक पिता श्री अरविन्द थे और भूपेन्द्रनाथ दत्त और वारीन्द्र कुमार घोष पर उनका प्रभाव सुस्पष्ट था। भूपेन्द्रनाथ और वारीन्द्र आतक द्वारा स्वाधीनता-प्राप्ति की धारणा के समर्थक थे।'[2]

इसलिए, अत में, हम कह सकते है कि मातृभूमि को शक्ति द्वारा मुक्त कराना श्री अरविन्द की राजनीतिक क्रिया विधि का मुख्य अग था। उनके मन मे बडे पैमाने पर जनता के सशस्त्र विद्रोह का विचार था पर वह कार्यान्वित नही हो सका। किन्तु सन् १९१० मे सक्रिय राजनीति से अलग होने तक क्रान्तिकारी दलो के साथ उनके सम्बन्ध बने रहे। इस तरह उन्होने दोहरा राजनीतिक जीवन बिताया, एक

---

[1] कर्मयोगिन २२ जनवरी १९१० म द न्यू पालिसी।

[2] द ओरिजिंस आफ द नेशनल एजकेशन मूवमेंट पृ० ७४।

अध्याय १२

# सत्याग्रह और बहिष्कार

श्री अरविन्द के सत्याग्रह और बहिष्कार विषयक दृष्टिकोण का विश्लेषण करने से पहले उसे सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखना और उन राजनीतिक गतिविधियों पर संक्षेप में प्रकाश डालना उचित होगा जिनके कारण इन ब्रिटिश शासन विरोधी विशाल राष्ट्रीय आन्दोलनों की उत्पत्ति और वृद्धि हुई। बहिष्कार आन्दोलन की शुरुआत बंगाल में हुई और शेष भारत में भी उसकी लहर दौड़ी। इसका कारण था १९०५ में लॉर्ड कर्जन द्वारा दुर्भाग्यशाली बंग भंग जो व्यापक और प्रबल विरोध के बावजूद बंगवासियों के गले के नीचे जबरदस्ती उतार दिया गया। इस कारवाई के गुण-दोषों से सम्बन्धित गुदीर्घ विवाद का उल्लेख करना यहाँ जरूरी नहीं है। लॉर्ड कर्जन के सरकारी जीवन-लेखक रॉनल्डशे[1] जैसे बंग भंग समर्थकों के अनुसार वायसराय की यह कारवाई न्याय-संगत थी क्योंकि तत्कालीन बंगाल प्रान्त बहुत बड़ा था और उसका कुशल प्रशासन सम्भव न था। इस मत के अनुसार, एकाधिक सुविधाजनक शासन-खंड बना कर बंगवासियों के हितों और सुखों की अभिवृद्धि की इच्छा से प्रेरित होकर ही लॉर्ड कर्जन ने ऐसा किया था। स्वयं कर्जन ने सन १९०४ में पूर्वी बंगाल का दौरा किया था, विभाजन की अच्छाइयाँ लोगों को समझाने की कोशिश की थी और अपने भाषणों में प्रशासनिक कार्य-क्षमता के तर्क पर जोर दिया था। एक भाषण में उन्होंने कहा था कि 'मेरी दृष्टि में प्रशासन की कार्यकुशलता शासित की संतुष्टि का पर्याय है। यह प्रशासन का एक उपाय मात्र है ताकि जनता के सुख से घर बैठ

---

[1] लाइफ आफ लार्ड कर्जन खण्ड २ अध्याय २४।

वृद्धि हो—अणु मात्र ही सही, पर है तो जन समुदाय के सुख म ही।" इसलिए लॉर्ड कर्जन ने कुछ समय पहले रिजले पत्र[2] के माध्यम से वग-भग योजना के सावजनिक प्रसारण के फलस्वरूप बगालियो के तीव्र विरोध को बडी हिकारत से बनावटी और भावावेगज य घोषित किया था।

दूसरी तरफ बगाल और देश के दूसरे भागो के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी और बहुत-से उदारपथी नेताओ की स्पष्ट राय थी कि विभाजन अनथकारी, दुर्भावनापूण और सिद्धान्तहीनता की पराकाष्ठा था। वह बगाल के नेतत्व मे पनप रही राष्ट्रीय चतना का नष्ट करने का प्रयत्न था, और इस उद्देश्य मे प्रेरित था ताकि बगाली सदा के लिए कमजोर हो जाएँ और लगभग बराबर-बराबर सख्या मे रहनेवाले प्रान्त के दो बडे समुदायो—हिन्दुओं और मुसलमानो—के बीच एक खाई बन जाए। भारत मे ब्रिटिश शासन के इतिहास मे लोकमत की जैसी प्रबल अभिव्यक्ति उस समय हुई वसी अब तक कभी नही हुई थी, और इस योजना[3] के विरोध मे सारा प्रान्त क्रोध मे गरज पडा। इस प्रचड प्रतिरोध और सावजनिक विरोध के बावजूद यह योजना स्वीकार कर ली गई। प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने इस लोक प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए लिखा था

'यह घोषणा बम-वर्षा की तरह पडी तो जनता चकित रह गई। हम लगा कि हम तिरस्कृत, अपमानित और प्रवचित किए गए है।

[1]वही खण्ड २ प० ३२८।

[2]पत्र म० ३६७८ दिनाक कलकत्ता ३ दिसम्बर १९०३, जिसे भारत सरकार के सचिव श्री एच० एच० रिजल ने अपनी सरकार की ओर से बगाल-सरकार के मुख्य सचिव को भेजा था। यह पत्र जिसम बग भग की विस्तत योजना थी १२ दिसम्बर १९०३ के गवनमेंट आफ इण्डिया गजट म प्रकाशित हुआ था।

[3]प्रा० हरिदास और प्रा० उमा मुखर्जी ने अपनी पुस्तक इडियाज फाइट फार फ्रीडम म बग भग की कारक घटनाओ इस योजना के समर्थकों और विरोधियो के तर्कों और उसके विरोध म उठे प्रचण्ड सावजनिक बवण्डर का रोचक और विस्तत वणन किया है। 'जेनेसिस आफ पार्टीशन ऐण्ड द ऐंटी पार्टीशन एजीटेशन (१९०१-१९०५) विशेष रूप म देखिए। अप्रल १९५९ के 'माडन रिव्यू' म प्रा० पी०सी० चक्रवर्ती का लख जेनेसिस आफ द पार्टीशन आफ बगाल (१९०५) भी देखिए।

हमे लगा कि हमारा भविष्य संकट मे है और यह बंगला भाषी जनता मे बढती हुई आत्म-चेतना और एकता पर जान-बूझकर किया गया प्रहार है। इसे शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओ के कारण ही क्यो न लागू किया गया हो, लेकिन हमे लगा कि उस पर राजनीतिक गन्ध और रंग चढ गया है और यदि उसे स्वीकृत होने दिया गया तो वह हमारी राजनीतिक उन्नति और हिन्दुओ और मुसलमानो की गहरी एकता के लिए घातक होगा, जिस पर भारत की उन्नति बहुत हद तक आधारित है।"[1]

इस घोर अपमान और क्रोध के कारण ही बंगाल मे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्तर पर पहला जन-आन्दोलन उठ खडा हुआ। इसी आन्दोलन ने भारत के कुछ महान बडे नेताओ को जन्म दिया और *नवजागत राष्ट्रीयता के पैगम्बर के रूप मे श्री अरविन्द को* प्रसिद्ध बनाया। इसी आन्दोलन ने ऐसी शक्तियो को जाग्रत किया कि चालीस साल के भीतर-भीतर भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। प्रस्तुत पुस्तक राजनीतिक चिन्तनधारा का अध्ययन है, राजनीतिक इतिहास का नही, इसलिए इस आन्दोलन की विकास-सरणि का वर्णन करते समय हमे विस्तृत विवरणो का मोह छोडकर केवल यह दिखाना है कि पाच ही वर्षो मे उसने भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन को बुद्धि-जीवियो के बुद्धि विलास मात्र से ऊपर उठा कर जनसमूह का ओजस्वी सघर्ष बना दिया, उसने लाखो-करोडो भारतीयो को अनुप्रेरित और आत्म-त्याग और साहसिक कृत्यो के लिए प्रोत्साहित किया, मतलब यह कि उसने वे आधार शिलाएँ स्थापित की जिन पर बाद मे भारतीय स्वतन्त्रता का विशाल भवन खडा हो सका।

श्री अरविन्द उस समय तक मुख्यतया पर्दे के पीछे से काम कर रहे थे और उनके निकट के कुछ लोगो को छोडकर अधिकाश लोग उनके कार्यक्षेत्र की सीमा और गहराई से अनभिज्ञ थे। लेकिन बंगाल का विभाजन और उसके बाद सम्पूर्ण प्रान्त मे फैले विभाजन विरोधी आन्दोलन ने उन्हें रोशनी मे पहुँचा दिया। उस समय भी औपचारिक

[1] ए नेशन इन द मेकिंग पृ० १८७—८८।

रूप से वह बडौदा कॉलेज के वाइस प्रिंसिपल थे, यद्यपि वह अपना बहुत सारा समय बगाल के गुप्त आन्दोलन का निर्देशन करने मे लगाते थे। सन् १९०६ मे वह कॉलेज से एक वर्ष की अवैतनिक छुट्टी लेकर कलकत्ता आ गए। फरवरी १९१० मे चन्द्रनगर को रवाना होने तक उनका मुख्यालय कलकत्ता ही रहा। इस थोडे से समय मे ही श्री अरविन्द ने सत्याग्रह के सिद्धान्त और प्रयोग पर बहुत अधिक लिखा।

जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख चुके है, विदेशी अत्याचार से देश का स्वतन्त्र करने के लिए हिंसात्मक उपाय अपनाने मे श्री अरविन्द को कोई हिचक नही थी। लेकिन वह अव्यावहारिक स्वप्न-द्रष्टा मात्र नही थे। ऐसा लगता है कि शीघ्र ही उन्होने जान लिया कि भारतीय इतिहास की उस अवस्था मे सशस्त्र विद्रोह व्यावहारिक नही था। गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन को सहायता और मार्ग-दर्शन इस उद्देश्य से देते रहे कि उससे भारत मे काम करने वाले अग्रेजो का नैतिक बल कम होगा, पर फिर भी उन्हे भ्रम नही था कि केवल क्रान्ति से ही देश को स्वतन्त्र कर सकना सम्भव है।[1] वास्तव मे, उनकी रचनाओ से स्पष्ट है कि विभाजन के परिणामस्वरूप हुए सार्वजनिक विरोध की प्रबल उथल-पुथल मे उन्होने चाहा था कि राष्ट्रीय आन्दोलन केवल गुप्त समितियो और प्रच्छन्न कारवाइयो तक सीमित न रहकर एक विशाल, व्यापक और खुला आन्दोलन बन जाए जो भारत के विशाल जन-समूह को प्रोत्साहित और सगठित करके मुक्ति और स्वतन्त्रता की ओर ले चले।[2] इस तरह अपने सिद्धान्त मे हिंसात्मक

---

[1]'द पावर दैट अपलिफ्टस', (कर्मयोगिन, २१ अगस्त १९०९) नामक लेख मे इटली के महान नेता मज्जिनी के छोटे-छोटे स्थानीय विद्रोहो की योजना पर विचार करते हुए वह कहते हैं अगर मज्जिनी सचमुच यही सोचते थे कि छिटपुट हत्याओ से उनका देश आजाद हो जाएगा तो यह विचार किसी शेखचिल्ली की बेपर की उडान जैसा निरर्थक ही था।

[2]हमे ध्यान रखना है कि यह आन्दोलन अन्तर्मुखी होकर गुप्त समितियो तथा आतकवाद मे ही फँस कर न रह जाए और यदि उसकी बहिर्मुखी अभिव्यक्ति रोकी गई तो ठीक ऐसा ही हो जाएगा— वन्दे मातरम साप्ताहिक सस्करण १२ अप्रैल १९०८, द वर्क बिफोर अस से।

उपायों का स्थान होने पर भी, उन्होंने अपनी दूरदर्शिता के कारण एक बिलकुल ही दूसरे उपाय का अपना समर्थन दिया जिसको उन्होंने उस समय की परिस्थिति में देश की स्वतन्त्रता का 'सबसे स्वाभाविक और उपयुक्त हथियार' माना। वह था सत्याग्रह का सिद्धान्त। अपनी रचनाओं में वह अक्सर उसको 'प्रतिरक्षात्मक विरोध' कहते हैं लेकिन स्पष्टता के उद्देश्य से हम आगे के विश्लेषण में 'सत्याग्रह' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

## प्रत्यक्ष-परोक्ष विरोध का अन्तर

श्री अरविन्द ने 'वन्दे मातरम्' में सन् १९०७ में ९ अप्रैल से २३ अप्रैल तक सत्याग्रह पर एक लेखमाला लिखी। लेख बाद में 'डॉक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस' (सत्याग्रह का सिद्धान्त) नाम से पुस्तकाकार संग्रहीत हुए।[1] वे श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धान्त की इस मुख्य धारणा पर काफी प्रकाश डालते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष विरोध का अन्तर समझाते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है कि 'परोक्ष या प्रतिरक्षात्मक विरोध और प्रत्यक्ष या आक्रमणशील विरोध में मौलिक अन्तर यह है कि आक्रमणशील विरोधी के साधन सरकार को निश्चित हानि पहुँचा सकते हैं जबकि परोक्ष विरोधी का साधन केवल यह है कि वह सरकार के कामों में सहायक न बने। दोनों का साध्य एक ही है—सरकार को विवश करना—पर साधन भिन्न हैं। सत्याग्रह का मार्ग उन देशों के लिए विशेष उपयुक्त है जहाँ सरकार अपना शासन जारी रखने के लिए अधिकतर शासित प्रजा की स्वेच्छया सहायता और मजबूरी पर निर्भर होती है।'[2]

इस मान्यता के आधार पर श्री अरविन्द ने सही निष्कर्ष निकाला कि यदि यह सहायता और मौन स्वीकृति क्रमश: सारे राष्ट्र में वापस ले ली जाए तो भारत में अंग्रेज सत्ता का कायम रहना बहुत कठिन हो जाएगा।[3] यह एक ऐसा हथियार है जो भारत में ब्रिटिश

[1]श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी से प्रकाशित।

[2]'द डॉक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस' पृ० ३५।

[3]अपने प्रसिद्ध लेख 'आपेन लेटर टु माई कंट्रीमेन' ... रविन्द ने

शक्ति की जड काट सकता है और अगर अपेक्षित कुशलता और धैर्य मे इसका उपयोग किया जाए तो यह भारत में अग्रेजी राज को समाप्त भी कर सकता है। श्री अरविन्द ने लिखा है 'इसलिए सत्याग्रह का पहला सिद्धान्त, जिसे नये सम्प्रदाय ने अपने कायक्रम मे सर्वोपरि रखा है, यह है

'वत्तमान परिस्थितिया मे हर ऐसा काम करने से सामूहिक-मुसगठित इनकार कर दिया जाए जिससे ब्रिटिश व्यापारी हमारे देश को चूसते हो या ब्रिटिश अधिकारी हम पर शासन करते हो—और इस तरह प्रशासन असम्भव बना दिया जाए। यह कायवाही तब तक चलती रहे जब तक जनता की माग के अनुसार परिस्थितिया बदल न जाएँ। एक शब्द म इस कायवाही का नाम है—बहिष्कार।'[1]

## सत्याग्रह के सिद्धान्त

स्पष्टतया बहिष्कार की सफलता के लिए जरूरी है कि सरकारी काम-काज के सभी मुख्य अगो मे उसका प्रयोग हो और इस प्रकार जमी रिक्ति को भरने के लिए स्वय राष्ट्र वैकल्पिक व्यवस्था करे। श्री अरविन्द के सत्याग्रह सिद्धान्त का वणन पाच प्रमुख श्रेणियो मे किया जाएगा

(१) आर्थिक बहिष्कार और स्वदेशी,
(२) शैक्षिक बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा,

---

था—१८वा सदी म अमेरिका के सवधानिक आन्दोलन का नारा प्रतिनिधान नहा कराधान नही था इसी तरह बीसवी सदी मे अधिकार नही सहयोग नहा हमार वधानिक आन्दोलन का नारा होना चाहिए क्योकि सविधान तो हमारे पास है नही।

[1]श्री अरविन्द के लिखने के समय से केवल पच्चीस वप पहले बॉयकाट (बहिष्कार) शब्द चला था। शॉटर आक्सफोड डिक्शनरी म उसका अर्थ या दिया गया है—*राजनीतिक और अन्य मतभेदा के कारण दूसरे पक्ष के साथ किसी* प्रकार का सम्बन्ध रखने से सगठित रूप म इनकार करना, ताकि उसको या तो दण्ड मिल जाए या वह अपना पद त्यागने के लिए विवश हो जाए। आयरिश लण्ड लीग ने अपने विरोधिया के विरुद्ध अपने काय के लिए यह शब्द पहले-पहल प्रयुक्त किया था। यह शब्द सन १८८१ मे जब आयरलण्ड खतिहर आन्दोलका ने एक जमीदार बायकाट का बहिष्कार किया था। द डाक्ट्रिन ऑफ पसिव रेजिस्टेंस, पृ० २५–२६।

(३) न्यायालयों का बहिष्कार और राष्ट्रीय मध्यस्थता न्यायालयों (पंचायतों) की स्थापना,
(४) कार्यपालिका बहिष्कार और राष्ट्रीय संगठन, और
(५) सामाजिक बहिष्कार।

**(१) आर्थिक बहिष्कार और स्वदेशी**

बंगाल विभाजन योजना के ठीक बाद ही शायद बहिष्कार का पहला लिखित आह्वान कृष्ण कुमार मित्र की ओर से आया था। उन्होंने १३ जुलाई १९०५ के अपने साप्ताहिक 'संजीवनी' के अग्रलेख में लोगों से आग्रह किया था कि वर्तमान परिस्थितियों में, जहां तक हो सके, वे विदेशी माल का बहिष्कार करें।[1] इसके बाद अनेक सार्वजनिक और गुप्त सभाएँ हुईं जिनमें बंग भंग योजना की तीक्ष्ण आलोचना की गई और बहिष्कार का प्रतिपादन किया गया। इसी सन्दर्भ में ७ अगस्त सन् १९०५ की कलकत्ता के टाउन हाल की ऐतिहासिक सभा महत्त्वपूर्ण है। भारत में अंग्रेज़ी शासन के इतिहास में अब तक इतनी बड़ी विरोध सभा नहीं हुई थी और उसमें सभी क्षेत्रों के लोग शामिल हुए थे। क्रान्तिकारी जोश भी अनुपम था। सभा में तीन प्रस्ताव पास हुए, तीसरा बहिष्कार प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपनी उदार शब्दावली के बावजूद उसका असर क्रान्तिकारी था और उसी से बहिष्कार आन्दोलन की नींव पड़ी। प्रस्ताव इस प्रकार था

---

[1] आई० बी० रवाडस वेस्ट बंगाल गवर्नमेंट एल० नम्बर ४७६/१९३ से हमको मालूम होता है कि जनता के राजनीतिक और आर्थिक कष्टों के निवारण के लिए ब्रिटिश चीज़ों के बहिष्कार का विचार १९वीं सदी के अन्तिम चरण से ही बंगाल में जोर पकड़ रहा था और बहिष्कार—स्वदेशी आन्दोलन के औपचारिक आरम्भ (७ अगस्त १९०५) से तत्काल पहले सन् १९०५ के शुरू में ही प्रारम्भ हो चुका था। श्री तहल राम गंगा राम ने कलकत्ता में अपने जोशीले भाषणों में बहिष्कार का जोरों से प्रतिपादन किया था। इंडियाज़ फाइट फ़ार फ्रीडम हरिदास मुखर्जी और उमा मुखर्जी पृ० ३३ पर पाद टिप्पणी।

'अनक छोटे नगरा की अनेक सभाओ मे स्वीकृत एक प्रस्ताव मे यह सभा पूण रूप से सहमति प्रकट करती है जिसमे भारतीय मामला मे अग्रेज जनता की उदासीनता और परिणामस्वरूप वत्तमान सरकार की भारतीय जनता के मत की उपेक्षा के विरुद्ध यह तय किया गया था कि जब तक विभाजन प्रस्ताव वापस नही लिया जाएगा तब तक हम ब्रिटिश उत्पादका से माल नही खरीदेंगे।'

उल्लेखनीय है कि बहिष्कार का आविष्कार कुछ खास शिकायता का दूर करने के अस्थायी उपाय के तौर पर ही हुआ था, पर वह कालान्तर मे ब्रिटिश शासन की बेडियो को पूरी तरह काट फेंकने की लडाई का मुख्य हेतु बन गया। अंग्रेजा के आर्थिक हिता को हानि पहुँचाने और जनसमूह का उत्साह जगाने की उसकी आश्चयजनक शक्तिया को लोग जल्दी ही समझ गए। श्री अरविन्द तुरत ही बहिष्कार के उत्साही समथक बन गए। उनकी रचनाओ म उसके महत्त्व का प्रबल सैद्धान्तिक विश्लेषण और उसकी क्रियाविधि से सम्बधित बहुमूल्य सूत्र पाए जाते ह। बाद मे महात्मा गाधी ने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध लडाई मे बहिष्कार और स्वदेशी का एक शक्तिशाली अस्त्र बनाया, लेकिन स्मरणीय है कि भारत के राष्ट्रीय रग-मच पर उनके प्रवेश से कम-से-कम एक दशक पहले उसकी नीव दृढ हो चुकी थी।

श्री अरविन्द ने आर्थिक बहिष्कार के मूलाधार की रूपरेखा इन शब्दा मे की

हम भारत मे ब्रिटिश शासन की वित्तीय और आर्थिक स्थितियो से, विदेशियो द्वारा देश के शोषण से उसके साधना के दुरुपयोग से, और उसके परिणामस्वरूप निरन्तर बढते अकाल और निधनता से, जनता और उनके उद्योग धधो की रक्षा न करने की सरकारी नीति से पूणतया असन्तुष्ट है। इसलिए हम ग्राहको की हसियत से शोषण और निधनता लाने मे सहायता करने मे इनकार करते है। हम अब मे विदेशी, विशेषकर ब्रिटिश, माल न स्वय खरीदेंगे और न दूसरा का खरीदना भी सहन करेंगे। ब्रिटिश माल का सगठित

और पूर्ण बहिष्कार करके हम देश का और अधिक शोषण असम्भव बना देना चाहते हैं।"[1]

यह सिद्धान्त दो मुख्य मान्यताओं पर आधारित था और दोनों ही ठीक थी। पहली यह कि भारत में ब्रिटिश शासन का सार-तत्त्व देश के आर्थिक शोषण में निहित है। इस तथ्य को अब सभी स्वीकार कर चुके हैं। अंग्रेज पहले भारत में व्यापारियों की तरह आए थे और ईस्ट इंडिया कम्पनी की आरम्भिक राजनीतिक हरकतें केवल अपने आर्थिक हितों की रक्षा की दृष्टि से हुई थी। भारतीय मामलों का नियंत्रण कम्पनी के पास से ब्रिटिश सरकार के हाथ में आने के बाद भी आर्थिक शोषण की बात सदा प्रमुख रही। 'दूकानदारों के राष्ट्र' ने भारत में सस्ते कच्चे माल का आदर्श भण्डार और अपने देश में निर्मित माल के लिए उन्नतिशील बाजार देखा, और इस अवसर का निर्दयता से लाभ उठाया। बहिष्कार-सिद्धान्त के पीछे दूसरी मान्यता यह थी कि यदि स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीय दृढ़ और देश-भक्ति पूर्ण प्रयास करें तो वे अंग्रेजी माल को खरीदना और इस्तेमाल करना स्वेच्छा से छोड़ सकते हैं और यदि यह बड़े पैमाने पर लगातार होता रहे तो भारत में अंग्रेजी शक्ति पर घातक प्रभाव पड़ सकता है। भविष्य की घटनाओं से यह अनुमान सच्चा ही सिद्ध हुआ। कुछ ही महीनों में बहिष्कार आन्दोलन प्रान्त भर में आग की तरह फैल गया और मुसलमानों समेत जनता के सभी वर्गों ने, विशेष रूप से विद्यार्थी समुदाय ने, बड़े परिमाण में उसमें योग दिया। इस आन्दोलन ने अश्विनी कुमार दत्त, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, द्विजेन्द्र लाल राय, विपिनचन्द्र पाल, आनन्दचन्द्र राय, अब्दुल रसूल, मौलवी लियाकत हुसैन आदि बंगाल के अनेक बड़े नेताओं को एकता के सूत्र में बांध दिया।"[2]

'वन्दे मातरम्' के कालमों द्वारा श्री अरविन्द आन्दोलन सम्बन्धी

---

[1] डाक्ट्रिन आफ पसिव रजिस्टेंस पृ० ३६–३७।

[2] इंडियाज फाइट फार फ्रीडम (हरिदास मुखर्जी और उमा मुखर्जी) में १९०५–१९०६ के निर्णायक समय के दौरान आन्दोलन की गति की विलक्षण कहानी विस्तार के साथ दी गई है।

उत्तेजक और उत्प्रेरक टिप्पणिया लगातार छापते रहे। उनकी दृष्टि मे वहिष्कार आन्दोलन एक अद्भुत् शस्त्र था, जिससे रक्त क्रान्ति के बिना ही भारत ब्रिटिश शासन का जुआ उतार कर फेंक सकता है। वह लिखते हैं

'इस प्रसग मे हमको हमेशा याद रखना चाहिए कि विदेशी निरकुशता हम लोगो की ही सहायता पर बुरी तरह निर्भर है। इस सहयोग को हटा लीजिए तो साम्राज्यवादी निरकुशता ताश के महल की तरह ढह जाएगी। इस बात का पता तो बहुत समय पहले चल चुका था, लेकिन भारत इसका मर्म समझने की ओर अभी उद्यत हुआ है। और इस देशी सहायता की आवश्यकता ही कदाचित् भारत में रक्तहीन स्वतन्त्रता प्राप्ति को शायद सम्भव बना सकती है।'[1]

एक और भाषण में उन्होंने कहा

'शान्तिपूर्ण और आध्यात्मिक मुक्ति की आशा इस बात पर आश्रित है कि स्वदेशी, बहिष्कार और सत्याग्रह के प्रति हमारी श्रद्धा और भक्ति कितनी गहरी है। इसी पर यह भी निर्भर है कि भारत नैतिक शक्ति और शान्तिपूर्ण बल से क्रान्ति लाने का इतिहास मे अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत कर सकेगा या नही।'[2]

बहिष्कार का अर्थ है विदेशी माल को न खरीदना। लेकिन इसका यह मतलब नही, और न हो ही सकता है, कि लोग विदेशो में बनने वाली सभी वस्तुओ का उपयोग हमेशा के लिए बन्द कर दें। इसलिए बहिष्कार का तर्कसगत प्रतिफल है स्वदेशी अर्थात् जनता के लिए आवश्यक सभी वस्तुओ का अपने ही देश मे निर्माण। स्पष्ट है कि यह रातो-रात नही हो सकता। यह तो वस्तुत एक लम्बी और धीमी प्रक्रिया है, लेकिन आर्थिक आत्मनिर्भरता का आदर्श और बहिष्कार का सिद्धान्त परस्पर साथ ही चलते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं कि विदेशी माल से अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने से इनकार करने का अर्थ है अपने आप वह माल तैयार करना। इस स्वदेशी और विदेशी

[1]'वन्दे मातरम' साप्ताहिक सस्करण, २६ सितम्बर १९०७ मे ब्यूरोक्रेसी ऐंड नेशनलिज्म।

[2]'मुकरतुलि भाषण की रिपोर्ट—स्पीचेज' श्री अरविन्द पृ० १३६।

उद्योगो के प्रसार के बगैर औद्योगिक वहिष्कार नही कर सकते ।"

इस तरह वहिष्कार के दो वडे उद्देश्य थे। पहला था भारत मे ब्रिटिश शक्ति की नीव हिलाना, दूसरा जनता के लिए आवश्यक माल तयार करने वाले देशी उद्योग धधा की शीघ्र उन्नति करना और इस प्रकार राष्ट्र का आर्थिक पुनरद्धार करने वाली शक्तिया को जागृत करना। अपनी रचनाआ मे उन्होने हमेशा दोना पर जोर दिया। उनके लिए ये दाना एक ही सिक्के के दो पहलू थे वहिष्कार नकारात्मक पहलू था और स्वदेशी रचनात्मक। उन्हाने लिखा है

'इसलिए सफल वहिष्कार की पहली शत है राष्ट्रीय उद्योगा की ऐसी व्यवस्था कि एक ओर पहले से विद्यमान उद्योगा का सुधार और विकास हो तो दूसरी ओर उद्यम के लिए नए माग खोले जाएँ।" उन्हाने विपरीत तक भी दिया है 'स्वदेशी उद्यागो को प्रोत्साहन के लिए विदेशी माल का वहिष्कार आवश्यक अनिवाय शत है ।" इन दोनो मे कोई परस्पर अन्तविरोध नही है। उनका उद्देश्य केवल इस पर जोर देना है कि वहिष्कार और स्वदेशी परस्पर अन्योन्याश्रित है और एक के विना दूसरे की असफलता निश्चित है।

वास्तव मे, वहिष्कार स्वदेशी आन्दोलन से देशी उद्योगा का आश्चयजनक प्रोत्साहन मिला, विशेष रूप से कपडा उद्योग को, क्याकि देश भर मे, विशेष कर बगाल और महाराष्ट्र मे, मानचेस्टर और लकाशायर के कपडो की होली जलाना सामान्य वात हो गई।

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रजिस्टेंस पृ० ३६।

[2] वन्दे मातरम् ८ जनवरी १६१०। व्यावहारिक वहिष्कार'।

[3] एन ओपेन लेटर टु माई कट्रीमेन।

'इडियाज फाइट फार फ्रीडम (मुखर्जी) म लेखक कहते हैं स्वदेशी आन्दोलन ने जो एक साथ दशभक्तिपूण और आर्थिक आन्दोलन था हमारी राजनतिक आकाक्षाआ को ही नही बल्कि देश के औद्योगिक पुनजन्म को भी उत्तेजित किया। विशेष कर भारत के बुनाई उद्योग को स्वदेशी आन्दोलन से बडा प्रोत्साहन मिला। इग्लण्ड म बने वस्त्रा का व्यवस्थित और पक्का वहिष्कार करके स्वदेशी की भावनाओ को पोषित और प्रेरित करके सन् १६०५ के राष्ट्रीय आन्दोलन ने देश भर म देशी माल की वडी माँग पदा की। जसे-जसे देशी वस्त्रा की माँग वढती गई नये कारखाने बनाने के प्रयत्न भी बढते गए। दिसम्बर १६०५ म बनारस

भारत मे इस सदी के पहले दशक मे कारखानो और कुटीर उद्योगो की उन्नति का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ की परिधि से बाहर है। यहाँ इतना ही बताना काफी है कि श्री अरविन्द की राजनीतिक प्रणाली मे बहिष्कार और स्वदेशी के बीच निकट का सम्बन्ध था और उन्होने साफ देखा कि दोनो की सफलता पर ही विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध राष्ट्रीय सग्राम म पूरा राजनीतिक लाभ होगा।

## (२) शैक्षिक बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा

सदियो के इतिहास और परम्परा के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय जागति की रूप-रखाएँ बनती है और वे देश के समग्र समयदारी और अनुभवो को प्रतिविम्बित करती हैं। लेकिन निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि राष्ट्र के विद्यार्थियो को जिस प्रणाली से शिक्षा दी जाती है, उसका प्रभाव राष्ट्र की चेतना पर बहुत अधिक पडता है। भारत मे ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली का प्रवेश इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। ठीक ही कहा गया है कि ब्रिटिश नीति के किसी भी काम का आधुनिक भारतीय विचारधारा के विकास पर उतना अधिक स्थायी प्रभाव नही पडा जितना सन् १८३५ मे किए गए सरकार के इस निर्णय का कि अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को सरकारी सहायता दी जाए और इगलैण्ड के स्कूलो मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति ही यहाँ भी स्वीकार की जाए।[1]

---

म पहला भारतीय औद्योगिक सम्मेलन, जिसके अध्यक्ष रमेशचन्द्र दत्त थे देशी उद्योगो के विकास और सम्भावनाओ के प्रति सार्वजनिक ध्यान केन्द्रित करने का पहला महत्त्वपूर्ण कदम था और रचनात्मक स्वदेशी के मार्ग पर चलने के लिए जनता को प्रोत्साहित करने म सफल हुआ था। पृ० १२६–२७।

[1] यह सच है कि सन् १८८३ म ही ब्रिटिश पार्लियामेंट ने ईस्ट इडिया कम्पनी को जब उसके लाइसेंस का नवीकरण किया जा रहा था आज्ञा दी थी कि हर साल कम-से कम एक लाख रुपए की रकम अलग रखी जाए और उसका उपयोग साहित्य के नवीकरण और विकास भारत के शिक्षित लोगो के प्रोत्साहन भारत के ब्रिटिश प्रदेशो म विज्ञान की शिक्षा प्रारम्भ तथा प्रचारित करने म किया जाए। किन्तु यह रकम मुख्यत सस्कृत और अरबी स्कूलो म खर्च की गई। सोर्सेज आफ इण्डियन टडिशन (कोलम्बिया) पृ० ५८७–८८।

इस निणय के पहले सावजनिक शिक्षा समिति म अग्रजी शिक्षावादिया और प्राच्य शिक्षावादिया के बीच हुए विवाद के रोचक इतिहास का अध्ययन करने के लिए यहाँ स्थान नही है। इतना ही कहना काफी है कि मकाले के नतृत्व मे और राजा राममोहन राय[1] का सुयाग्य समथन पाकर अग्रेजी-समथक ही अन्त मे विजयी हुए और अग्रजी शिक्षा लागू करने का निणय किया गया। इस निणय के महत्वपूण सामाजिक और राजनीतिक परिणामा की रूपरेखा मात्र खीचन के लिए बडे-बडे ग्रन्थ अपेक्षित हागे। यह कहना गलत न होगा कि यदि यह निणय न लिया गया होता तो लगभग सभी दष्टिया से वत्तमान भारत का स्वरूप दूसरा ही होता। इस सन्दभ म 'सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रडिशन' की अपूव टिप्पणी है

'इस शिक्षा प्रणाली को लागू करने के दो मुख्य परिणाम निकले। एक तो भारतीय प्रबुद्धजना मे पाश्चात्य विचारो और पाश्चात्य जीवन-दष्टि को ग्रहण करन की गति बहुत बढ गई। दूसरे, विदेशी आचार-विचार और मनोवत्तिया तेजी से भारतीय समाज मे प्रवेश करने लगी तो हिदुआ के प्राचीन साहित्य के अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हाने लगे, इन दोना कारणो से हिदू धम की रक्षा तथा भारतीयो को और अधिक राजनीतिक अधिकारा की माग के लिए आदोलन को प्रोत्साहन मिला। इन आदोलनो के नेता अक्सर अग्रेजी मे ही लिखते, बोलते और सोचते थे। अग्रेजी शिक्षा ने भारतीय वातावरण मे एक और आमूल परिवत्तन उत्पन्न किया। पहले भाषात्मक, क्षेत्रीय और सास्कृतिक भिन्नताआ के कारण भारत हिस्सो मे बँटा था। अब देश के सभी भागा के लोगा की एक भाषा और एक-सी सास्कृतिक पृष्ठभूमि तयार हुई। इससे भारतीया को अपनी एक आधुनिक सवमाय सस्कृति की सष्टि करने का अवसर मिला। अखिल भारतीय एकता की नई परिस्थिति न कुछ वर्षों मे राजनीतिक आत्म चेतना और भारतीय राष्ट्रीयता को जम दिया।'[2]

---

[1] गवनर-जनरन लाड ऐमहस्ट को सन १८२३ मे लिखा गया शिक्षा सम्बधी पत्र देखिए (इग्लिश वक्स पृ० ४७१–४७४)।

[2] सोर्सेज आफ इण्डियन ट्रडिशन (कोलम्बिया) पृ० ५८८–८६।

अंग्रेजी शिक्षा से भारत को काफी लाभ हुआ और अब भी हो रहा है, लेकिन इसमे भी सन्देह नही कि उसके पाठ्यक्रम और शिक्षण-पद्धति मे कुछ स्पष्ट दोष भी थे। मैकाले का घोषित उद्देश्य था दुभाषिया-बाबुओ का एक ऐसा वर्ग पैदा करना जो भारत की विशाल जनता पर शासन करने के काम मे अंग्रेजो की सहायता करे।[1] इसलिए पाठ्य क्रम बहुत ही रूढ था। भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन से नितान्त असम्बद्ध था, उसमे परीक्षाओ और उपाधियो पर ही सारा ज़ोर दिया गया था और वह भारत के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परिवेश से परे था। उसके प्रति भारत के, विशेष कर बगाल के, प्रबुद्ध आत्माभिमानी वर्ग मे प्रतिरोध और विरोध की भावना और बढी। लॉर्ड कर्जन के शासन-काल मे इस विरोध ने ठोस शक्ल पाई। सन् १९०२ मे इण्डियन यूनिवर्सिटी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, तो एक मात्र हिन्दू सदस्य सर गुरुदास बनर्जी की असहमति टिप्पणी भी उसमे शामिल थी। इस बहुपक्षीय रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सन् १९०४ मे इण्डियन यूनिवर्सिटी ऐक्ट पास किया। इस रिपोर्ट और ऐक्ट से सम्बन्धित विवाद के कारण शिक्षा के प्रश्न को लेकर सार्वजनिक उत्साह पैदा हुआ और सन् १९०२ मे सतीश चन्द्र मुखर्जी ने 'डान सोसाइटी' की स्थापना की।[2] हम देख चुके है, सन् १९०५

---

[1] "हमको इस समय एक ऐसा वर्ग बनाना होगा जो हमारे और हमारे करोड़ो प्रजाजन के बीच दुभाषिए का काम करे।"—मकाले का प्रसिद्ध मिनट आन् एजुकेशन १८३५। हमें स्वीकार करना चाहिए कि लार्ड मिंटो, डेविड हेयर और लॉर्ड ऐमहर्स्ट जसे दूसरे अंग्रेजो के मन मे भारतीय शिक्षा मे अंग्रेजी को स्थान देते समय अधिक महान उद्देश्य थे। अनेक लोगो का दृढ विश्वास था कि इस कदम से भारतीयो को बहुत लाभ होगा।

[2] 'ओरिजिन्स आफ नेशनल एजूकेशन मूवमेंट', मे प्रो० हरिदास और उमा मुखर्जी ने इस आन्दोलन के जन्म और विकास मे सतीशचन्द्र के योगदान का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होने उस आन्दोलन का भी विस्तृत वर्णन दिया है जिसमे सन १९०५ में स्थापित 'नेशनल काउंसिल आफ एजुकेशन' (राष्ट्रीय शिक्षा परिषद) और 'सोसाइटी फार द प्रोमोशन आफ टैकनिकल एजूकेशन' (तकनीकी शिक्षा सम्वर्धन समिति) भी सम्मिलित है। इन दोनो ही संस्थाओ ने एक-एक महत्वपूर्ण

के बंग भंग से प्रान्त भर में एक बहुत ही तीव्र अभूतपूर्व ब्रिटिश विरोधी भावावेश और आन्दोलन जाग उठा था और 'बहिष्कार' और स्वदेशी का आह्वान देश भर में आग की तरह फैल गया था। यह विरोध अन्य सभी क्षेत्रों में समान शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रकट हुआ और नव राष्ट्रवादी दल के राजनीतिक कार्यक्रम में शिक्षा सम्बन्धी बहिष्कार एक मुख्य मार्ग बन गया।

कुशल राजनीतिक पर्यवेक्षक श्री अरविन्द ने शिक्षा-सम्बन्धी बहिष्कार का महत्व तुरन्त समझा। उन्होंने बहिष्कार को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संग्राम का एक सशक्त साधन माना था अतः उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के बहिष्कार को समग्र बहिष्कार का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किया। दूसरी तरफ उन्हें आभास हुआ कि इस तरह का बहिष्कार विद्यार्थी समुदाय को प्रभावित और प्रोत्साहित करेगा, और विद्यार्थियों का सक्रिय सहयोग राष्ट्रवादियों के संघर्ष में सहायक होगा। ये दोनों अनुमान सत्य सिद्ध हुए। शासकों के कठोर दमन-चक्र के बावजूद बंगाल के विद्यार्थियों ने सन १९०५–१९१० ई० के संक्रान्तिकाल में प्रान्त भर में इस बहिष्कार का प्रचार किया।

सत्याग्रह के सिद्धान्त पर लिखते हुए श्री अरविन्द ने शैक्षिक बहिष्कार के विषय में कहा

'हम इस देश में शिक्षा की परिस्थितियों से, जानबूझकर थोपी गई हीनता और अपर्याप्तता से, उसके राष्ट्र विरोधी स्वभाव से, उस सरकार के हाथों की कठपुतली बनाए जाने से और उसके द्वारा देश भक्ति से निरुत्साह किए जाने और राजभक्ति के भाव उत्पन्न करने के प्रयासों से असन्तुष्ट है। इसलिए हम अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों या सरकार के अधीन या सरकार से सहायता प्राप्त स्कूलों में भेजने से इनकार करते हैं, यदि यह शैक्षिक बहिष्कार व्यापक और सुसंगठित हो जाए तो देश में शिक्षा-सम्बन्धी प्रशासन असम्भव

---

शिक्षा संस्था स्थापित की। पहली समिति ने १४ अगस्त सन १९०६ को बंगाल कॉलेज की स्थापना की जिसके पहले प्रिन्सिपल श्री अरविन्द थे और दूसरी ने २५ जुलाई १९०६ को बंगाल टक्निकल इंस्टीट्यूट की स्थापना की।

हो जाएगा और युवक हृदयों पर से विदेशियों का अधिकार उठ जाएगा।"[1]

बंगाल नेशनल कॉलेज के पहले प्रिंसिपल की हैसियत से श्री अरविन्द का राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन से निकट सम्पर्क था, यद्यपि समकालीन रिपोर्टों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण कॉलेज के संचालन में ध्यान देने का समय उनके पास नहीं था और उसके साथ उनका नाम जोड़ने का उद्देश्य कॉलेज का गौरव बढ़ाना मात्र था।[2] यह स्पष्ट है कि शिक्षा-सम्बन्धी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा श्री अरविन्द की राजनीतिक क्रियाविधि का मुख्य अंग थी।

### (३) न्यायालयों का बहिष्कार और मध्यस्थता न्यायालयों (पंचायतों) की स्थापना

'हम न्याय-व्यवस्था से, दीवानी न्यायालयों के विनाशकारी महँगे-पन, फौजदारी अदालतों के कठोर दण्ड विधान और कार्य विधि की नृशंसता, पक्षपात और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए न्याय की बलि देने की रीति से असन्तुष्ट हैं। इसलिए हम विदेशी न्यायालयों की शरण में जाने से एकदम इनकार करते हैं और जब तक ये परिस्थितियाँ विद्यमान हैं तब तक हम न्यायालयों का संगठित बहिष्कार करके लालफीताशाही न्याय प्रशासन का असम्भव बनाने को कृत संकल्प हैं।"[3] इन शब्दों में श्री अरविन्द ने अदालती बहिष्कार के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया, जो उनकी राय में बहिष्कार रूपी शस्त्रागार का

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पैसिव रजिस्टेंस, पृ० ३७।

[2] ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन अपने आरम्भिक उत्साह के बावजूद सन १९१९ तक अपना जोश खो बैठा। १ जनवरी १९१० के कर्मयोगिन में राष्ट्रीय शिक्षा पर श्री अरविन्द का सम्पादकीय और 'द आरिजिंस आफ द नेशनल एजूकेशनल मूवमेंट' (मुखर्जी) देखिए। श्री अरविन्द ने नेशनल कॉलेज ऑफ एजूकेशन के प्रिंसिपल पद से १९०७ में इस्तीफा दे दिया क्योंकि प्रबन्ध समिति कॉलेज को राष्ट्रीय क्रियाकलापों से अलग रखना चाहती थी।

[3] द डाक्ट्रिन आफ पैसिव रेजिस्टेंस', पृ० ३७–३८।

एक प्रचण्ड हथियार था। विदेशी शासको द्वारा सस्थापित किसी भी सरकारी विभाग से सहयोग न करन के अपन मूल विचार के अनुकूल श्री अरविन्द ने महसूस किया कि न्यायालयो का वहिष्कार बहुत जरूरी है। वह जानते थे कि कानूनी विवाद सामाजिक जीवन का आधारभूत अग है और न्याय-प्रशासन के लिए उन्होने राष्ट्रीय मध्यस्थता न्यायालया (पचायतो) की स्थापना की अनिवार्यता पर जोर दिया। उन्होने लिखा 'यदि हम विदेशी न्यायालयो मे घुसने से इनकार करते है तो हमे अपने आपसी कलह और झगडो को दूर करने के लिए मध्यस्थता न्यायालयो की जरूरत है।'[1]

श्री अरविन्द के राजनीतिक चिन्तन मे न्यायालयो के वहिष्कार के सैद्धान्तिक महत्त्व के विषय मे कोई सन्देह नही है, हालाकि अपनी रचनाओ मे उन्होने स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे सत्याग्रह के अन्य पहलुओ की अपेक्षा उस पर कम ध्यान दिया है। व्यवहार मे भी ऐसा लगा कि न्यायालया के वहिष्कार ने जनता को आकर्षित नही किया और सन १९०९ मे श्री अरविन्द ने स्वय स्वीकार किया कि 'मध्यस्थता न्यायालया (पचायता) का आन्दोलन, आरम्भ मे सफल होने पर भी सरकारी दमन के कारण त्याग दिया गया है।'[2] दमन के अतिरिक्त उसकी असफलता के दो और कारण थे। पहला यह कि सुयोग्य जजा और आवश्यक कानूनी साज-सज्जा के साथ अदालता को स्थापित करना आसान काम नही था। ग्रामीण झगडा मे काम-चलाऊ तात्कालिक मध्यस्थता पर्याप्त हो सकती थी, किन्तु कलकत्ता जसे बडे शहर के परिष्कृत समाज के लिए इस तरीके से काम लेना आसान नही था। वडी-वडी धनराशिया से सम्बन्धित झगडा मे विधिवत स्थापित न्याया-लयो को छोडकर कही और जाने को लोग विवश भी नही किए जा सकते थे। धनिको को स्वदेशी कपडे पहनने के लिए राजी करा लेना तो आसान था पर सुस्थापित न्यायालया का वहिष्कार करा सकना कठिन, क्याकि राष्ट्रीय मध्यस्थता न्यायालया से लाभ पहुँचना सन्देहास्पद ही लगता था।

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस पृ० ३६।
[2] 'कमयोगिन' म न्मिम्बर १९०९ 'टु माई कन्ट्रीमेन' नामक लख।

उन दिनो के तीव्र भावावेश की परिधि से दूर आकर अब हम एक नये परिप्रेक्ष्य से विचार करे तो मानना पडेगा कि न्यायालयो के बहिष्कार की सफलता मे दूसरी कठिनाई यह थी कि न्याय की अग्रेजी प्रणाली निष्पक्ष और सत्यनिष्ठ थी। इसमे भी सन्देह नही कि न्यायालयिक शक्ति का दुरुपयोग होता था, लेकिन मोटे तौर पर अग्रेजो के पक्ष मे यह कहना ही होगा कि भारत मे उन्होने जो न्यायपद्धति स्थापित की वह सर्वोत्तम थी। वैसी पद्धति किसी भी विजेता ने विजित देश मे कभी नही स्थापित की। यह इस बात से सिद्ध होता है कि अनेक बार अग्रेज न्यायाधीशो ने भारत मे अग्रेजी सरकार की प्रतिष्ठा और हितो को घोर आघात पहुँचाने वाले निणय भी किए हैं। प्रसिद्ध अलीपुर बम षडयन्त्र केस (१९०९) मे श्री बीचक्राफ्ट का निर्णय इसी तरह का था। श्री अरविन्द को सज़ा दिलाने के ब्रिटिश सरकार के प्रबल प्रयत्नो के बावजूद न्यायाधीश ने उन्हे दोष मुक्त कर दिया था।

वस्तुत श्री अरविन्द न्यायालयो के बहिष्कार की कमियो को अच्छी तरह समझते थे। 'लॉ ऐंड द नेशनलिस्ट' (कानून और राष्ट्रवादी) लेख मे उन्होंने काननी बहिष्कार की सीमाएँ निर्धारित की

'हम समझते हैं कि सामान्य न्याय-व्यवस्था मे अभी भी उपलब्ध स्वतन्त्रता की सीमा की परीक्षा करने के हर मौके का फायदा राष्ट्रवादियो को उठाना चाहिए। हम जानते है कि राष्ट्रवादियो के एक वग की राय है कि हमारे स्वदेशी-बहिष्कार सिद्धान्त का तकाज़ा है कि हमे किसी भी प्रकार की न्यायालयिक कारवाई मे भाग नही लेना चाहिए। हालाकि हममे से बहुतो ने उस वीरतापूण दृढता की प्रशसा की है जिसके बल पर हम अनेक मामलो मे इस सिद्धान्त का पालन करते रहे हैं, पर हम, किसी पर ज़ोर-जबरदस्ती नही करना चाहते, हम तो यही चाहते है कि इस पर विश्वास करने वाले लोग ही इसका पालन करें। हम उसे अपना प्रकाश स्तम्भ भी नही मान सकते। हमारा यह मत है कि कोई भी राष्ट्रवादी वत्तमान राजनीतिक परिस्थितियो मे दूसरे राष्ट्रवादी के विरुद्ध या जब कभी उसके पास विकल्प हो तब ब्रिटिश न्यायालयो का सहारा न ले। यदि दूसरे उसे फौजदारी न्यायालय या दीवानी न्यायालय मे घसीट ले जाएँ तो कानून के मुताबिक

सब तरह से उसे अपना बचाव करना चाहिए। यदि किसी मामले में उसके हित जोखिम में हो और मध्यस्थ लोग न्याय करने से इनकार कर दें तो उसे छूट होगी कि न्यायालयों का सहारा ले या यदि देश का कानून ऐसा है कि जमीन के मालिक या सम्पत्ति वाले व्यवसायी की हैसियत से उसे अपनी हित-रक्षा के लिए न्यायालयों की शरण जाना आवश्यक है तो स्पष्ट है कि वह अपने को उस रक्षा से वंचित न रख सकता वरना राष्ट्रीय हित और सम्पत्ति को ही हानि पहुँचने का भय है। मध्यस्थता और अंग्रेजी न्यायालयों का बहिष्कार भी आवश्यकता के उस सर्वोपरि सिद्धान्त पर आधारित है जिसके कारण प्रणाली काम, उत्पादन के साधनों का बहिष्कार न करने को हम विवश होते हैं।"[1]

इस अनुच्छेद से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द ने मध्यस्थता और न्यायालयिक बहिष्कार की व्यावहारिक सीमाओं को समझा था। यद्यपि न्यायालयों के बहिष्कार की बात भी उनके बहिष्कार के सामान्य सिद्धान्त में है पर यथार्थवादी दृष्टि से उन्होंने स्वीकार किया कि उनका बिलकुल सीमित प्रयोग ही सम्भव है।

### (४) कार्यपालिका का बहिष्कार और राष्ट्रीय व्यवस्था

सरकार की कार्यपालिका शाखा जनता के दैनिक जीवन के निकटतम सम्पर्क में आती है। विधानपालिका और न्यायपालिका के काम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं पर उनका शासित जनता के साथ इतना सतत् और सीधा सम्बन्ध नहीं होता। कार्यपालिका इसीलिए महत्त्वपूर्ण है। इसलिए स्पष्ट है कि यदि किसी विदेशी सरकार का बहिष्कार सफलता से करना है तो कार्यपालिका तन्त्र का बहिष्कार भी अनिवार्य है। श्री अरविन्द ने इसे स्पष्ट देखा और इस बात को अच्छी तरह समझा कि मुट्ठीभर अंग्रेज भारतीयों के ही प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग से भारत पर शासन कर पा रहे हैं। यदि वह कड़ी एक बार तोड़ दी जाए यदि ब्रिटिश शासकों के साथ भारत का सहयोग एक बार बन्द कर

---

[1] "कर्मयोगिन" ४ सितम्बर १९०९।

दिया जाए तो, श्री अरविन्द का विश्वास था कि, भारत मे अंग्रेज सत्ता बुरी तरह क्षीण हो जाएगी और अन्तत नष्ट ही हो जाएगी। उनके वहिष्कार सिद्धान्त का, विशेषकर कार्यपालिका वहिष्कार के सिद्धान्त का, यही आधार है।

श्री अरविन्द ने कार्यपालिका के वहिष्कार की धारणा इन शब्दो म व्यक्त की

'हम कार्यपालिका शासन-व्यवस्था, उसकी स्वेच्छाचारिता उसकी निरकुशता, उसके दमन की नशसता, उसके अत्याचार, जनता की रक्षा के लिए पुलिस का प्रयोग करने के स्थान पर दमन के लिए उसके प्रयोग की नीति आदि का विरोध करते हैं। अत हम शासन से किसी भी प्रकार की सहायता या परामश या रक्षा नही चाहते। हम यह भी नही चाहते कि सरकार पिता के समान लालन-पालन का वहाना वनाकर जनता के काय-कलापो मे किसी प्रकार का दखल दे। हम शासन के प्रति सगठित रूप से असहयोग की नीति अपनाकर उसके नियत्रण को कम करना चाहते ह और उसके हस्तक्षेप को कम से कम कर देना चाहते है। नौकरशाही प्रशासन की सफलता थोडे-से व्यक्तियो की सक्रिय सहायता और वहुसख्यक जनता की मौन सम्मति पर निभर रहती है। यदि ये कुछ व्यक्ति सहायता करने से इनकार कर दे, यदि भारतवासी सरकारी स्कूलो मे पढाने से, सरकारी दफ्तरो मे काम करने से और पुलिस अधिकारी वनकर विदेशियो की सेवा करने से इनकार कर दें तो शासन एक दिन भी नही चल सकता। हम स्वीकार करते है कि नौकरशाही इस तरह खाली हुए स्थानो को यूरेशिया-इयो से, विदेशियो या देशद्रोहियो से भर सकती है पर फिर भी यदि हम स्कूलो, न्यायालयो और मजिस्ट्रेटो की कचहरियो मे जाना वद करके सरकार की मदद करने से इनकार कर दे तो शासन का अन्त होकर रहेगा।'[1]

इस धारणा से हमे पता चलता है कि विदेशी शासको द्वारा वनाई गई नियमावली के प्रति शासितो का दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए।

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रजिस्टेंस पृ० ३८।

विदेशी शासन म, विशपकर जब यह शासन अति कानूनी ब्रिटिश लोगा का हो, यह स्वाभाविक है कि कायपालिका अनक जटिन नियमा वलिया और नियन्त्रणा का लागू करेंगी। अत स्पष्ट है कि कायपालिका वहिष्कार की कोई भी योजना अपनान पर वहिष्कार करनवाले का कानून के साथ सीधा सघप होगा। श्री अरविन्द इस समस्या का सीधा समाधान देते है

'जनता द्वारा अपने ऊपर स्वय लगाए गए नियमा में एक ऐसी बन्धनशक्ति होती है जिसकी उपेक्षा अत्यावश्यक स्थिति का छोडकर कभी भी नहीं की जा सकती। पर बाहर म थाप गए नियम के सम्बन्ध मे ऐसी कोई नैतिक स्वीकृति नही है। उसका पालन हो या न हो, यह या तो शक्ति प्रयोग या दवाव पर आश्रित है या इस बात पर कि वह कितना उचित और हितकारी है, उसके स्थापक की शक्ति पर तो वह हर्गिज निभर नही है। यदि वह अन्यायपूण और दमनशील है ता उसको न मानना और उसके उल्लघन के कानूनी दण्ड को चुपचाप भुगतने के लिए तयार रहना हमारा कत्तव्य हो जाएगा।'[1]

यह एक सुस्पष्ट कथन है और इससे व्यक्त होता है कि श्री अरविन्द के राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार, विदेशी सरकार की नियमावली को मानना शासितो के लिए आवश्यक नही है।[2] इससे उन्हाने काय-पालिका-वहिष्कार और सत्याग्रह के दो महत्त्वपूण सिद्धान्त वनाए। पहला यह है कि 'अन्यायपूण और अनुचित नियम तोडना न्याययुक्त ही नही वल्कि विशेष परिस्थितियो मे कत्तव्य भी ह,'[3] और दूसरा यह कि 'अन्यायपूण और दवावपूण आज्ञा का उल्लघन करना न्याय-युक्त ही नही वल्कि वत्तमान परिस्थिति मे कत्तव्य भी ह।'

सभी जानते है कि कायपालिका वहिष्कार के अनेक पक्षो मे कर न देना परम्परा से सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है और सफल हो जाए

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस, पृ० ५३।

[2] इस तरह उनका सिद्धान्त आस्टिन के सिद्धात की अपेक्षा लास्की के सिद्धान्त स अधिक साम्य रखता है।

[3] द डाक्ट्रिन ऑफ पसिव रेजिस्टेंस पृ० ५३।

वही पृ० ५६।

ता सबसे अधिक प्रभावकारी भी होता है। राष्ट्रवादी दल के तात्कालिक सिद्धान्तो म श्री अरविन्द ने उन्हे स्थान नही दिया, क्योकि उन्हे मालूम था कि यह एक अतिवादी कार्यवाही है जिसकी सफलता की शत यही है कि उसके पीछे कोई शक्तिशाली और सुगठित राष्ट्रीय सगठन हो। उन्होने कहा था कि 'अल्टीमेटम तब तक किसी भी दशा मे नही दिया जाना चाहिए, जब तक उसे उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचाने की शक्ति अपने मे न हो।'[1] फिर भी, 'कर न दो' आन्दोलन के महत्त्व से वह पूणत परिचित थे, क्योकि उन्होने लिखा है

'कर दिया जाना प्रशासन को जनता की सबसे बडी सहायता है और जनता की सहमति और मौन स्वीकृति का स्पष्टतम प्रतीक है। कर न देना ऐसा प्रबल बहिष्कार है कि उससे बढकर केवल शस्त्र-प्रयोग ही हो सकता है। यह एक ऐसा आक्रमण है जिसका आघात सरकार को तत्काल लगता है और इसलिए वह परिहार के लिए तुरन्त ही समझौता या दमन का उपयोग करेगी लेकिन इससे विरोध अधिक ओजस्वी और सशक्त ही बनता है। कर न देना सत्याग्रह का ही स्वाभाविक और तकसगत परिणाम है।'[2]

अब हम कार्यकारिणी-बहिष्कार, बल्कि सच तो यह है कि हर तरह के बहिष्कार, की तार्किक परिणति—प्रभावशाली राष्ट्रीय सगठन—पर ध्यान दें। वैसे तो यह बहिष्कार और सत्याग्रह आन्दोलन की सफलता के लिए जरूरी है परतु उस पर यहा विचार इसलिए किया जा रहा है कि कायकारिणी-बहिष्कार के प्रसग मे उसका विशेष महत्त्व है।

स्पष्ट है कि भारत जसे विशाल और जन-सकुल देश म, या बगाल प्रान्त मे ही सही, विदेशी शासन के विरुद्ध कोई प्रभावकारी आन्दोलन —विशेषकर बहिष्कार और सत्याग्रह जसा उन्नत और विशिष्ट आन्दोलन—तभी सफल हो सकता है जब वह राष्ट्रीय पमाने पर सुयोजित हो। श्री अरविन्द ने ठीक ही अनुभव किया कि 'भारत जैसे

---

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस पृ० ४६।
[2] वही पृ० ४९।

विशाल देश मे कर न देने की नीति जैसी नीतियों के कारण अधीश शक्ति के साथ संघर्ष की सफलता की पहली शर्त है एक प्रान्त को दूसरे प्रांत से और एक जिले को दूसरे जिले से मिलाने वाला सुगठित संगठन और सारे राष्ट्र के एक ही निश्चय का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक सशक्त केंद्रीय सत्ता। ऐसी सत्ता ही नौकरशाही दमन का सामना प्रतिरक्षात्मक विरोध से कर सकती है।'[1] 'वन्दे मातरम' और 'कर्मयोगिन' दोनों के लेखों में श्री अरविन्द ने भारत में एक राष्ट्रीय सत्ता के निर्माण की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है जो 'उसकी बिखरी हुई शक्तियों को संगठित कर एक अदम्य शक्ति बना दे'[2] और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के विजयी संघर्ष का पथ प्रशस्त करे।

श्री अरविन्द की आशा थी कि कांग्रेस एक बार अपने उदारपंथी नेताओं से छुटकारा पा ले और राष्ट्रवादियों के हाथों एक नया और शक्तिशाली अस्त्र बन जाए तो वह ऐसे प्रभावशाली राष्ट्रीय संगठन में बदल सकेगी। अपने 'ऐन ओपेन लेटर टु माई कंट्रीमेन' (मेरे देश-वासियों के नाम एक खुला पत्र) में उन्होंने लिखा है कि 'पुनः संगठित कांग्रेस के आधार पर सशक्त और कार्यकारी संगठन का निर्माण राष्ट्रीय कार्यक्रम है और देश के संगठन का एकमात्र उचित उपाय अब भी यही योजना लगती है।'[3] राष्ट्रवादी प्रबल तो होते गए पर वे कांग्रेस पर पूरा अधिकार नहीं कर सके। वास्तव में सन १९०६ में कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो गई। सरकार उदारपंथियों की भरसक सहायता करने और राष्ट्रवादियों के दमन के लिए अपनी सारी शक्तियाँ लगाने लगी। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब कांग्रेस एक प्रबल अखिल भारतीय संगठन बन सकी तभी वह भारत में ब्रिटिश सत्ता को भयभीत कर सकी और अन्त में उसको गिरा भी सकी। उन शुरू के दिनों के राष्ट्रवादी नेताओं में श्री अरविन्द प्रमुख थे जिन्होंने राष्ट्रीय संगठन के महत्त्व का केवल कार्यपालिका

---

[1] 'द डाक्ट्रिन आफ पैसिव रजिस्टेंस' पृ० ४६।

[2] 'वन्दे मातरम' साप्ताहिक संस्करण २२ मार्च १९०८ 'द नीड आफ द मोमेंट'।

[3] स्पीचेज (परिशिष्ट) पृ० १५२।

वहिष्कार की सफलता के लिए नही, वल्कि पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन की सफनता के लिए अनिवाय समझा था।

### (५) सामाजिक बहिष्कार

अब तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के लिए वहिष्कार राजनीतिक मनोरजन मात्र नही था, वल्कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सग्राम का प्रभावशाली और कुशल रणनीति भी था। इसलिए वहिष्कार आन्दोलन को अस्वीकार करके अग्रेजो को सहयोग देकर राष्ट्रीय हित मे वाधक बनने वाले देशद्रोही भारतीयो के लिए दण्ड-विधान की व्यवस्था भी जरूरी थी। कायपालिका के अधिकार मुख्य रूप से अग्रेजा के हाथ मे थे, इसलिए एक ऐसा उपाय सोचना था जिसका उपयोग किसी कायपालिका दण्ड विधान के विना भी जनता कर सके। सामाजिक वहिष्कार ऐसा उपाय था। श्री अरविन्द ने लिखा

'इस विषय मे जनमत को मनवाने के लिए सामाजिक वहिष्कार एक आवश्यक हथियार ह उसका अथ यह है कि अपराधी के साथ सव प्रकार से सम्वध विच्छेद करके उससे अलग रहना—यह उपाय प्रभावशाली है और ठीक तरह प्रयोग करने पर तत्काल फल देता ह ।'[1]

यह सिद्धान्त मूलत बहुत ही सरल है। उत्सवो, पर्वों, विवाहो आदि म देशद्रोही का सामाजिक वहिष्कार करे। अपनी राष्ट्र-विरोधी कारवाइयो के कारण उसे यह अनुभव हो जाना चाहिए कि उसके देशवासी उससे घृणा करते है। सामाजिक वहिष्कार का एक वडा लाभ यह था कि कानून के साथ उसका कोई सघष नही था और उसमे हिंसा की जरूरत नही थी। श्री अरविन्द ने इस वात पर जार देते हुए लिखा ह

' सामाजिक वहिष्कार मे, जैसा 'द इग्लिशमैन'[2] ने विवश होकर लिखा है, न हिंसा है, न जन-मत का तिरस्कार है और न शान्ति

[1]कमयोगिन १४ अगस्त १९०९ 'सोशल वायकाट।
[2]अग्रेजा द्वारा सचालित एव समकालीन समाचारपत्र।

भग है।" उन्होने यह भी लिखा कि 'हम विश्वास करते हैं कि सामाजिक बहिष्कार, जिसमे हिंसा या बल प्रयोग नही है, बिल्कुल कानूनी है, लेकिन यह निश्चित है कि पूरा ऐंग्लो इण्डियन समुदाय ही नही बल्कि न्यायपालिका का कुछ भाग भी इसे गैर-कानूनी बता कर प्रसन्न हो।"[1]

घटनाओ ने भी इस उद्धरण के अंतिम भाग की सच्चाई सिद्ध की। सचमुच अनेक न्यायाधीशो ने ऐसे निर्णय दिए जिनमे सामाजिक बहिष्कार को गैर-कानूनी बताया गया था। 'कौल बॉयकाट' का मुकदमा ऐसा ही था।[2] इस मुकदमे पर श्री अरविन्द की टिप्पणी से स्पष्ट है कि उन्होने सामाजिक बहिष्कार की उलझना को अच्छी तरह समझा था और वह उसके सम्भावित दुरुपयोगो से अनभिज्ञ नही थे। उन्होंने लिखा है

'हम सामाजिक बहिष्कार के दुरुपयोग के, जो व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्र बुद्धि और सच्चे विश्वास का प्रयोग करने से रोकता है बुरे परिणामो को जानते है। इसलिए हम ऐसे गम्भीर अवसरो पर ही उसका समर्थन करते हैं जब सारे समाज के मर्म पर आघात हो रहा हो और उस काम का सभी एक स्वर से घोर विरोध कर रहे हो।'[3]

आगे उन्होंने यह भी कहा है

'अब तो हिन्दू समाज का सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग विश्वास करता है कि सारे राष्ट्र के लिए ही नही सम्पूर्ण समाज के आर्थिक अस्तित्व के लिए बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन की जरूरत है। ऐसे लोगो के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना न्यायसगत है जो व्यक्तिगत और स्वार्थ-मलक उद्देश्यो के कारण विदेशी वस्तुओ को खरीदने का हठ करके उस आन्दोलन को आघात पहुँचाते हैं।'[4]

---

[1]'वन्दे मातरम्' १४ अगस्त १९०६ सोशल बॉयकॉट।

[2]वही ४ सितम्बर १९०६ 'द लॉ एण्ड द नेशनलिस्ट'।

[3]वही ४ सितम्बर १९०६ 'द कौल जजमेंट ऐण्ड द एक्जिक्यूशन ऑफ जजमेंट'।

[4]वही 'सोशल बॉयकॉट'।

[5]वही 'द सोशल बॉयकॉट'।

इस तरह हम देखते है कि श्री अरविंद के सुविचारित वहिष्कार-सिद्धान्त—आर्थिक, शैक्षिक, न्यायपालिक और कार्यपालिक—मे सामाजिक वहिष्कार की धारणा का प्रमुख स्थान है। यह वहिष्कार उस सिद्धान्त को वाध्यकारी शक्ति से समन्वित कर देता है, यद्यपि इस वाध्यकारी शक्ति म कोई हिंसा या नियमोल्लघन नही है। इस तरह यह सिद्धान्त वहिष्कार प्रणाली के विशाल भवन का सर्वोपरि खण्ड है। उन्ही के शब्दो मे

'जहा-जहा सत्याग्रह स्वीकृत हुआ है वहाँ-वहाँ उसके स्वाभाविक सहगामी के रूप मे सामाजिक वहिष्कार को भी स्वीकृति मिली है। सच्चे वहिष्कार-समर्थको का एक ही नारा हो सकता है 'विदेशी माल और विदेशी माल का प्रयोग करने वालो का वहिष्कार करो'। ऐसे लोगो का वहिष्कार किए विना मात्र वस्तुओ का वहिष्कार सफल नही हो सकता। सामाजिक वहिष्कार के विना केवल नैतिक शक्ति पर निर्भर रहने वाली कोई भी राष्ट्रीय सत्ता सफल नही हो सकती और एक सशक्त राष्ट्रीय सत्ता द्वारा सार्थक वहिष्कार का उपयोग न किया जाए तो यह नया सिद्धान्त सफल नही हो सकता।'[1]

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक क्रियाविधि के विवेचन का उपसहार करने से पहले सत्याग्रह और प्रतिरक्षात्मक प्रतिरोध की प्रकृति के बारे म उनके विचारो का और उनमे शक्ति-प्रयोग के स्थान का उल्लेख करना लाभदायक होगा। वहिष्कार का सिद्धान्त, जिसका विस्तृत अध्ययन हम कर चुके हैं, साधारणत शान्तिपूर्ण प्रयोग के लिए था। श्री अरविन्द ने कहा है 'हम कानून और कार्यपालिका के विरुद्ध शान्तिपूर्ण कार्यवाही करते है, लेकिन कानूनी परिणामो को कर्त्तव्यहीन भोक्ता बनकर स्वीकार करते हैं।'[2] लेकिन यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द की कल्पना मे यह शान्तिमय दृष्टिकोण विना शर्त नही है। वह तो सरकार के दृष्टिकोण पर निर्भर है और जैसा हम पहले एक अध्याय मे देख चुके है, परिस्थितियो का तकाजा

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस पृ० ५८।
[2] वही पृ० ६२।

हो तो वल का प्रयोग करने से वह मुँह नही मोडता। इसको विलकुल स्पष्ट करते हुए लिखते है

'परोक्ष प्रतिरोध (सत्याग्रह) की भी सीमा होती है। जव तक कार्यपालिका का व्यवहार शान्तिपूर्ण और सघर्ष के नियमो के अनुकूल रहता है तब तक सत्याग्रही (परोक्ष प्रतिरोधी) अपनी सहनशीलता का व्यवहार विलकुल इमानदारी से करता है, लेकिन उसके आगे वह एक क्षण भी ऐसा करने का वाध्य नही है। वलप्रयोग के अनधिकृत और हिंसात्मक उपायो को अत्याचार और गुडागिरी को देश की कानूनी-व्यवस्था का एक अग समझ लेना अपराधमयी भीरुता है, राष्ट्र के पौरुष को हीन करने वाला है तथा हमारे अन्दर के दिव्यत्व और मातभूमि के दिव्यत्व के प्रति अपराध है। इस तरह का वल-प्रयोग होते ही परोक्ष प्रतिरोध समाप्त हो जाता है और प्रत्यक्ष प्रतिरोध हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। प्रत्यक्ष होने पर भी वह प्रतिरोध केवल आत्म रक्षार्थ ही है। वह प्रत्यक्ष प्रतिरोध भी जव तक अपने ढग से वल प्रयोग का विरोध मात्र रहता है और आक्रमण के प्रतिरोध तक ही सीमित रहता है, तो आक्रामक नही माना जा सकता। अपनी ओर से आक्रमण करने पर भी प्रतिरोध तव तक आक्रामक नही हो जाता जव तक वह प्रतिरोध को सफल वनाने की आवश्यक सीमा से आगे नही निकल जाता इसलिए नई राजनीति, सत्याग्रह की समर्थक होते हुए भी परवश होकर उस अन्यायपूर्ण अत्याचार को स्वीकार करने की समर्थक नही है—सत्याग्रह एक सशक्त और महान राष्ट्र का निर्माण तव तक नही कर सकता जव तक उसमे पौरुष, साहसिकता और ओजस्विता न हो, और जव तक वह सकेत पाते ही सक्रिय प्रतिरोध के लिए सदा तत्पर न हो। हम अवलाओ के राष्ट्र का निर्माण नही करना चाहते जो सहना तो जानती है, आघात करना नही।'[1]

श्री अरविन्द के सत्याग्रह के सिद्धान्त की एक महत्वपूर्ण वात पर विशेष जोर डालने के लिए इतना लम्बा उद्धरण दिया गया है। वह ऐसी वात है जिसमे वह गाधी जी के परवर्ती सिद्धान्त से वहुत

[1] द डाक्ट्रिन आफ पसिव रजिस्टेंस पृ० ६२–६५।

भिन्नता थी। श्री अरविन्द की सबसे बडी अभिलाषा यह थी कि इस निष्क्रिय और सन्त्रस्त राष्ट्र मे शक्ति और ओजस्विता फूँक दी जाए और वह अपनी महान आध्यात्मिक और भौतिक अन्तर्निहित शक्ति को दोबारा पहचाने। यह केवल सत्याग्रह मात्र से सम्भव नही था और इसलिए उन्होने सत्याग्रह का समर्थन करते हुए भी स्पष्ट कर दिया कि वह एक नकारात्मक या कायरता का सिद्धान्त नही है जो भीरुता या अकर्मण्यता का आवरण मात्र हो। वह तो एक अति शक्ति-सम्पन्न सिद्धान्त है जो अन्य उपायो की अपेक्षा कम साहसिक और आक्रामक होते हुए भी एक दूसरी किस्म के शौर्य की, अधिक व्यापक सहनशीलता और यन्त्रणा की उपेक्षा करता है।'[1]

सक्षेप मे श्री अरविन्द के राजनीतिक विचारो मे राजनीतिक कारवाई की वास्तविक तकनीक पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है ताकि स्वतन्त्रता की प्राप्ति शीघ्र हो सके। इस तकनीक की तीन धाराएँ हैं पहली राष्ट्रीय भावना के, भारत की श्रेष्ठ सास्कृतिक परम्परा के प्रति अभिमान के, भारत की विशाल जनता आत्मविश्वास और स्वबोध के नवजागरण के लिए एक व्यापक आन्दोलन, दूसरी, विदेशी शासको और उनके भारतीय पिछलगुओ के विरुद्ध हिंसा और आतकवाद का एक गुप्त और प्रच्छन्न आन्दोलन जो ब्रिटिश शासको और उनके सहायको को भयत्रस्त कर दे, उनका नैतिक बल क्षीण कर दे, और तीसरी, आर्थिक, नैतिक, शैक्षिक, न्यायालयिक, कार्यपालिक और सामाजिक मोर्चो पर विदेशियो के विरुद्ध पचमुखी बहिष्कार आन्दोलन और विदेशी सस्थाओ की जगह जनता की आवश्यकता और मागो को पूरी करने मे असमर्थ देशी सस्थाओ का विकास। किसी भी राजनीतिक चिन्तक ने शायद ही व्यावहारिक राजनीतिक कारवाई पर इतना अधिक ध्यान दिया हो। श्री अरविन्द की प्रतिभा सचमुच अप्रतिम थी कि उन्होने राजनीति के व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना कभी नही की और उत्कृष्ट राजनीतिक सिद्धान्तो के साथ-साथ राजनीतिक कारवाई की एक ठोस योजना भी अपने देशवासियो के सामने रखी।

---

[1] 'द डाक्ट्रिन आफ पसिव रेजिस्टेंस' पृ० ३१।

अध्याय १४

# श्री अरविन्द का सक्रिय राजनीति से सन्यास (१६१०)

सन् १६०५-१६०६ की निर्णायक अवधि मे राष्ट्रीय नेता के रूप मे श्री अरविन्द का उत्थान एक उल्का के समान हुआ। उससे पहले वह अधिकतर पर्दे के पीछे रह कर काम करते रहे थे। लेकिन बग भग से सम्बन्धित घटनाओ ने उन्हें विवश कर दिया कि वह बडौदा से सम्बन्ध तोड कर कलकत्ता मे रह और ख्याति पाएँ। 'वन्दे मातरम' म अपने उत्प्रेरक लेखो के कारण वह बहुत जल्दी राष्ट्रव्यापी ख्याति के नेता बन गए और बगाल के सभी बौद्धिक सामयिक घटनाओ पर उनके भावोत्तेजक उदघोषणो की आतुरता से प्रतीक्षा करने लगे। लेकिन सक्रिय राजनीति मे वह केवल पाच वर्ष रहे। बाद मे राजनीति से उनका सन्यास भी उनके उत्कर्ष के समान ही नाटकीय था। वस्तुत यह घटना एक मनोरजक पहेली के समान थी और उसे हल करने के लिए अनेक स्पष्टीकरण और सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए है। यह पुस्तक श्री अरविन्द के राजनीतिक विचारो के बारे मे है, इसलिए हम इस समस्या पर उनके राजनीतिक विचारो के दृष्टिकोण से सोच कर यह जानने की कोशिश करेंगे कि राजनीति से सन्यास लेने का कोई तर्क-सगत, स्वीकार्य कारण था या नही।

किन्तु १६०६-१० की घटनाओ को देखने से पहले बग भग से तत्काल पहले काग्रेस म हुए परिवर्तनो का सर्वेक्षण सहायक होगा क्योकि उनमे श्री अरविन्द का प्रमुख हाथ था।

सन् १६०५ के बग भग के बाद के वर्ष ऐतिहासिक थे। उग्र राष्ट्रवाद के पुनरुद्धारात्मक आन्दोलन के नेताओ के लिए वे वर्ष सक्रिय कारवाई और उत्तेजना से भरे वर्ष थे। केवल बगाल-विभाजन के विरुद्ध

नहीं बल्कि ब्रिटिश शासन की सत्ता जारी रहने के ही विरुद्ध उठे इस आन्दोलन ने सारे भारत को आवेश से भर दिया था। बंगाल से शुरू होकर ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन की यह प्रचंड लहर सारे देश मे व्याप्त हो गई और महाराष्ट्र मे तिलक, पंजाब मे लाजपतराय और अन्य उग्रवादी नेता आन्दोलन के स्तम्भ बने। इन घटनाओं का प्रभाव कांग्रेस पर जल्दी ही पड़ा। स्पष्ट हो गया कि उदारपंथी नेता जन-मत से विच्छिन्न हो गए थे और नेतृत्व क्रान्तिकारियों के हाथो मे चला गया था।

बंग-भंग विरोधी रोष के पहले आवेग मे ऐसा लगा कि कांग्रेस के दोनो दल अंग्रेजो का विरोध करने मे एक हो जाएँगे। इसलिए १९०५ के अधिवेशन के प्रमुख उदारपंथी नेता गोपाल कृष्ण गोखले अध्यक्ष बने और उन्होने अध्यक्षीय भाषण मे विभाजन की आलोचना की। उन्होने कहा

'इस समय हम सबके मस्तिष्क मे मुख्य प्रश्न बंग-भंग का है हमारे बंगाली भाइयो के प्रति क्रूर अन्याय हुआ है और इसके फलस्वरूप राष्ट्र भर मे ऐसा गहरा दु ख और घोर विरोध छा गया है जैसा पहले कभी नही हुआ था।'[1]

लेकिन समझौते की आशा भ्रान्तिपूर्ण निकली। तिलक और उनके सहगामी, जिनमे बंगाल के क्रान्तिवादी आन्दोलन के प्रमुख नेता अरविन्द भी शामिल थे, अंग्रेजो के विरुद्ध कड़ी कारवाई करना चाहते थे जबकि उदारपंथी नेता, आरम्भिक आवेश शान्त हो जाने पर अपने याचक-वृत्ति के लोक मे लौट गए थे।

सन् १९०८ मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे श्री गोखले ने स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलनो का समर्थन किया तो अनेक लोगो को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा था कि बंगालियो ने 'हर तरह से उपयुक्त और न्यायसंगत' कदम उठाया था, तिलक और उनके साथी स्वदेशी और विदेशी माल के बहिष्कार पर अलग-अलग प्रस्ताव पास कराना चाहते

[1]भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के १९०५ अधिवेशन की रिपोर्ट। अध्यक्षीय भाषण।

थे, ताकि प्रत्येक का एकान्त महत्त्व से स्पष्ट हो जाए। लेकिन अन्त मे उन्होंने श्री मालवीय का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। प्रस्ताव मे कहा गया था कि जनता के निवेदन और विरोधो की एकदम अवहेलना करके बगाल के विभाजन पर तुली हुई भारत सरकार की जिद की ओर ब्रिटिश जनता का ध्यान खीचने के लिए एक मात्र वैधानिक, प्रभावपूर्ण और अन्तिम उपाय समझ कर बगाल के लोग विदेशी माल का बहिष्कार करने को विवश हुए है, और इस पर अधिकारियो ने दमनकारी कारवाई की नीति अपनाई है। सरकार की इस दमन नीति के विरुद्ध काग्रेस अपना प्रचड और घोर विरोध व्यक्त करती है।"[1]

लेकिन, प्रस्ताव मे, शायद जानबूझकर यह बात अस्पष्ट रहने दी गई कि काग्रेस विदेशी माल के बहिष्कार से सहमत थी या नही। तिलक और उनके दलवालो ने इसे आगे की ओर एक कदम माना और उग्रवादी नेता स्वदेशी और बहिष्कार के सार्वजनिक आदोलन करने मे लगे रहे। कुछ महीने बाद बगाल से अरविन्द, बिपिनचन्द्र पाल और अन्य नेताओ ने कलकत्ता मे होनेवाली अगली काग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए तिलक का नाम प्रस्तुत किया। इससे उदारपथी बहुत घबरा गए, और उन्होने दादाभाई नौरोजी को, जो उन दिनो इगलण्ड मे थे, तार देकर इस पद के लिए आमन्त्रित किया। यह उनकी एक चतुराई भरी चाल थी। चिरोल के अनुसार कोई भी उनका खुला विरोध करने का साहस नही कर सकता था क्योकि वह काग्रेस के पिता के समान थे—अपने बढिया स्वभाव और उद्देश्यो की पवित्रता के कारण उनका सर्वत्र सम्मान था।"[2]

सन् १९०६ के काग्रेस अधिवेशन मे १६६३ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। वह तब तक हुए अधिवेशनो मे सबसे बडा था। उसमे पारित एक प्रस्ताव मे कहा गया कि स्वराज या स्वशासन की स्थापना काग्रेस का लक्ष्य है और जोर दिया गया कि 'स्व शासित ब्रिटिश-उपनिवेशो

---

[1] भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के १९०५ अधिवेशन की रिपोर्ट, प्रस्ताव स० १०।

[2] वैलेन्टाइन चिरोल 'इंडियन अनरेस्ट' पृष्ठ ४१।

मे चालू शासन-पद्धति भारत मे भी लागू की जाए ।"[1] यह प्रस्ताव सवसम्मति से पास हुआ, लेकिन विषय समिति मे स्वदेशी और बहिष्कार के प्रस्तावो पर घनघोर विवाद हुआ। अन्त मे, दादाभाई नौरोजी की व्यवहार-कुशलता और सम्मान के कारण उनमे फूट नही पडी।[2] उदारपथियो को बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा विषयक तीन प्रस्ताव, जो तिलक दल के विचारो को प्रतिबिम्बित करते थे, स्वीकार करने पडे। श्री अरविन्द इस अधिवेशन मे बगाल मे तिलक की विचारधारा के मुख्य प्रवक्ता बन गए। प्रस्तावो का प्रारूप बनाने और उन पर विचार विनिमय करने मे उन्होने प्रमुख भाग लिया।

अपनी विजय से राष्ट्रवादी प्रसन्न हुए पर उन्हे शका थी कि कही अगले अधिवेशन के लिए उदारपथी नेता कोई प्रतिक्रियावादी चाल न सोच रहे हो। दूसरी ओर उदारपथी क्षुब्ध और कटु थे कि उन्हे क्रातिकारी दृष्टिकोण वाले प्रस्तावो का समथन करना पडा था। इस तरह दोनो पक्षो मे कोई असली समझौता नही हो पाया था और अगले काग्रेस अधिवेशन मे बल-परीक्षा के लिए दोनो पक्ष तैयारी करने लगे। सन् १६०६ के अधिवेशन के समापन के समय निणय हुआ था कि अगला अधिवेशन नागपुर मे होगा, लेकिन उदारपथी-बहुल अखिल भारतीय काग्रेस कायसमिति की बैठक बम्बई मे हुई और उसने नागपुर के बजाय सूरत मे अधिवेशन करने का निश्चय किया। उग्र दल वालो को इससे बुरा लगा और उन्होने उदारपथियो पर आरोप लगाया कि उन्होने नागपुर मे अधिवेशन का निणय इसलिए बदला कि वहा तिलक के अनुयायियो की सख्या ज्यादा थी सूरत जबकि उदार-पथियो का गढ समझा जाता था इसलिए सुरक्षित था।[3] इसके अलावा

---

[1]भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के १६०६ अधिवेशन की रिपोर्ट सकल्प ६ १६०८। अध्यक्षीय भाषण।

[2]वही।

[3]'श्री अरविन्दो आन हिमसेल्फ' मे एक कथन है काग्रेस अधिवेशन पहले नागपुर मे होने वाला था लेकिन नागपुर मराठा-बहुल उग्र अतिवादी क्रान्तिकारी शहर था। उस समय गुजरात मुख्यत उदारपथी और सूरत उदारवादियो का ग

अध्यक्ष के चुनाव के बारे में भी झगड़ा था। लाजपत राय उग्र क्रान्तिकारी उम्मीदवार थे और डॉ० रासबिहारी घोष उदारपंथी उम्मीदवार। अन्त में लाजपतराय ने अपना नाम वापस ले लिया, ताकि कोई दुर्भाव न फैले। लेकिन अधिवेशन के एक सप्ताह पहले एक खबर फैली कि स्वागत समिति ने कलकत्ता कांग्रेस में स्वीकृत स्थिति से पीछे हटने का निश्चय कर लिया है। इस पर दोनों दलों के बीच वैमनस्य अत्यधिक बढ़ गया। इस खबर के फैलने का कारण था। प्रस्ताव के प्रारूप अग्रिम प्राप्त नहीं हुए थे और एक सप्ताह पहले प्रकाशित विषयों की सूची में जिन पर विचार विमर्श होना था, स्वराज, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि मुख्य विषय शामिल नहीं थे, जब कि सन् १९०६ में तीनों पर अलग-अलग प्रस्ताव पास हुए थे।[1]

बल-परीक्षा अवश्यम्भावी लग रही थी। अधिवेशन शुरू होने से पहले तिलक श्री अरविन्द और दूसरे क्रान्तिकारी नेताओं ने बिलकुल स्पष्ट कर दिया कि वे कांग्रेस में फूट नहीं डालना चाहते किन्तु वे किसी हालत में सन् १९०६ के प्रस्तावों से पीछे हटने की बात नहीं मानेंगे। अधिवेशन शुरू होने से जरा देर पहले, २६ दिसम्बर को, प्रस्तावों के प्रारूप प्रतिनिधियों को प्राप्त हुए। तब मालूम हुआ कि स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्तावों में थोड़ा हेरफेर और परिवर्तन किया गया है ताकि उनका स्वर कुछ मन्द हो जाए। अपराह्न में अधिवेशन हुआ और अध्यक्ष-पद को लेकर हलचल मच गई। सभा स्थगित की गई और दूसरे दिन फिर हुई। उस दिन सब कुछ चौपट हो गया। अध्यक्ष के चुनाव के विषय में तिलक कुछ कहना चाहते थे पर उन्हें नियम विरुद्ध घोषित किया गया। फिर भी वह मंच पर आए और

---

था। इसलिए उदारपंथी नेताओं ने कांग्रेस अधिवेशन सूरत में करने का निश्चय किया।

[1]देखिए 'इंडियन नेशनल कांग्रेस—१८९२–१९०९' डाक्टर पी० सी० घोष अध्याय ७। समकालीन रिकार्डों और रिपोर्टों से पता लगता है कि १९०६ के प्रस्तावों से ब्रिटिश सरकार बहुत घबरा गई थी और उदारपंथी नेताओं ने सम्भवतः कांग्रेस को उग्र राष्ट्रवादी नीतियों की ओर जाने से रोकने का निश्चय कर लिया था।

उन्होंने बोलने का हठ किया। सहसा कोलाहल मच गया। जूते, मेज, कुर्सी आदि सब तरफ से फेंके जाने लगे। बहुत-से लोग घायल हुए। हाल में पुलिस आ गई और सभा अस्त-व्यस्त होकर भंग हो गई।

इस घटना से कांग्रेस के उग्रवादी दल और उदार दल के बीच अन्ततः खाई बन ही गई। उग्रवादियों ने संगठन छोड़ दिया। संस्था पर उदारपंथियों का एकाधिकार हो गया।[1] कई वर्ष तक उदारपंथी नेता ही कांग्रेस चलाते रहे और सम्मेलन भी करते रहे, पर यह स्पष्ट था कि उनको जन-सामान्य का समर्थन प्राप्त नहीं था। श्री आर० आर० दिवाकर ने कहा है 'सूरत कांग्रेस भंग हो गई, लेकिन उसने इतिहास का एक अध्याय लिख दिया। परिणाम यह हुआ कि उदारपंथियों के पास कांग्रेस का शरीर तो रह गया लेकिन आत्मा उग्रवादियों के साथ चली गई। अगले दस वर्ष तक भारतीय राष्ट्रवाद उस राष्ट्रीय संगठन की सीमाओं से बाहर पनपता रहा। जब सन १९१६ में उसने वार किया तो उदारपंथियों को उखाड़ फेंका और वे कांग्रेस के बाहर एक छोटी शक्तिहीन मण्डली की तरह रह गए। देश में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उनके दिन लद गए।'[2]

एक प्रकार से सूरत कांड में श्री अरविन्द के सिद्धान्त की विजय हुई, क्योंकि उसने उदारपंथियों और उग्र क्रान्तिकारियों के बीच मतभेदों को इस तरह स्पष्ट कर दिया कि सन्देह की गुंजाइश नहीं रह गई। इससे क्रांतिकारी युवकों के लिए कार्यक्षेत्र का एक नया मार्ग खुल गया, जो उदारपंथी पृष्ठगामी नेतृत्व के भार से मुक्त था। वास्तव में श्री अरविन्द बहुत दिनों से मतभेदों का स्पष्टीकरण चाहते थे। वही सूरत में हुआ। इसलिए कलकत्ता वापस जाने से पहले अपने दल के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों पर अनेक भाषण देने के लिए उन्होंने अनेक नगरों

---

[1]इस घटना के तुरन्त बाद ही २८ दिसम्बर को दोनों दलों ने अलग-अलग अधिवेशन किया। उदारपंथी अधिवेशन के अध्यक्ष रास बिहारी घोष थे (सूरत कांग्रेस और कान्फ्रेंसेज, इंडिया आफिस लायब्रेरी ट्रैक्ट्स १०४२ अर्पेंडिक्स बी द कनवेंशन) और उग्रवादी सम्मेलन के अध्यक्ष श्री अरविन्द थे (वही अपेंडिक्स वी उग्रवादियों की सभा)।

[2]'महायोगी' आर० आर० दिवाकर पृष्ठ ६६।

के निमन्त्रण स्वीकार करने का निश्चय किया। वह बडौदा, बम्बई, पूना, नासिक और अमरावती गए और प्रत्येक नगर मे उन्होंने प्रेरक भाषण दिए। सब जगह प्रेम और उत्साह के साथ उनका स्वागत हुआ।[1]

यही पर श्री अरविन्द के जीवन की एक आधारभूत विशिष्टता पर ध्यान देना अनिवार्य है। वह विशेषता है योग मे उनकी रुचि और साधना। हम बडौदा काल से सम्बन्धित अध्याय म देख चुके है कि सन् १९०० से ही श्री अरविन्द के जीवन मे आध्यात्मिक साधना और राजनीतिक कारवाई की दोनो धाराएँ समानान्तर प्रवाहित थी। बग-भग के समय और उसके बाद की अवधि के उन उत्तेजनापूर्ण वर्षो मे उनके सक्रिय राजनीतिक जीवन की गहन अन्तर्धारा आध्यात्मिकता ही थी। किन्तु सन १९०७ मे उन्हे लगा कि इस मार्ग पर उन्हें पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है और उपर्युक्त बडौदा प्रवास के दौरान उनकी भेंट विष्णु प्रभाकर लेले नामक एक महाराष्ट्रीय योगी से हुई।[2] जीवन के इस सोपान पर श्री अरविन्द की आध्यात्मिक साधनाओ और अनुभूतियो का विस्तृत वर्णन रोचक तो है पर इस पुस्तक के विषय-क्षेत्र म नही है। उनके जीवनी-लेखको ने उनका उल्लेख किया है और स्वय उन्होंने भी अपनी बाद की रचनाओ मे उन पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत पुस्तक उनके राजनीतिक दर्शन के अध्ययन से सम्बन्धित है, इसलिए हम उनके राजनीतिक जीवन और कार्यवाहियो पर पडने वाले आध्यात्मिक प्रभावो तक ही अपने को सीमित रखेंगे।[3] फिर भी इस प्रसग म

---

[1] महायोगी आर० आर० दिवाकर पृ० ७० और 'श्री अरविन्द' के०आर० एम० अय्यगार पृष्ठ १३८–१४४।

[2] महायोगी आर० आर० दिवाकर पृ० ७०–७१ श्री अरविन्द के० आर० एस० अय्यगार पृ० १३८ और लाइफ आफ श्री अरविन्द पुराणी पृ० १२१–२२।

[3] मैंने पहले एक अध्याय म बताया है कि इन अनुभूतियो की वस्तुनिष्ठ सत्यता से हम इस समय कोई सम्बन्ध नही रख सकते किसी के लिए वह एक प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का उदय हो सकता है तो दूसरे भ्रम मान कर उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। हमारा सम्बन्ध तो केवल इससे है कि श्री अरविन्द के राजनीतिक विचारो और राजनीतिक प्रश्नो के प्रति उनके दृष्टिकोण पर इन अनुभूतियो का क्या प्रभाव पडा।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्री अरविन्द की सहायता करने को लेले केवल इस शर्त पर तैयार हुए कि अरविन्द अपनी राजनीतिक क्रिया-विधियां को स्थगित रखेंगे—स्थगित इसलिए कि श्री अरविन्द पूर्ण रूप से उन्हें छोडने को तैयार नहीं थे।[1] यह साधना उन्होंने तीन दिन की और उन तीन दिनों में वह लेले के आदेश पर पूरे समय ध्यानस्थ रहे। उसका परिणाम बड़ा अद्भुत रहा, जिसकी कल्पना न लेले ने की थी और न अरविन्द ने। श्री अरविन्द ने इस घटना का वर्णन यों किया है

'पहले तो एक विस्मयजनक प्रबल अनुभूति मुझे हुई और चेतना में मौलिक परिवर्तन हुए, जिनकी लेले ने कभी कामना तक नहीं की थी, क्योंकि ये अनुभूतियां 'अद्वैतिक' और 'वेदान्तिक' थीं और लेले 'अद्वैत वेदान्त' के विरोधी थे। ये अनुभूतियां स्वयं मेरे विचारों के भी सर्वथा विपरीत थीं। मुझे प्रतीत हुआ जैसे परब्रह्म की अव्यक्त अनंतता और सर्वव्यापकता में, चलचित्र के दृश्यों के समान, जगत के शून्य रूपाकार लीलामय हैं। चरम परिणति यह हुई कि लेले को एक अन्तर्नाद सुनाई पड़ा कि अरविन्द को उसी के अन्तरतम में विराजमान दिव्य परम शक्ति को समर्पित कर दो और उस दिव्य शक्ति के आदेश का पूर्ण पालन करने दो।'[2]

यह उदाहरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे विदित होता है कि सन् १९०७ में ही अरविन्द की आत्मा का आध्यात्मिक तत्त्व प्रत्यक्ष की ओर उद्यत था। इसकी छाया उनके भाषणों में तुरन्त लक्षित होने लगी। बड़ौदा में लेले से भेंट करने के बाद वह बम्बई पहुँचे और वहां उन्होंने १९ जनवरी सन् १९०८ को 'बम्बई नेशनल यूनियन' के तत्त्वावधान में आयोजित एक विशाल सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। लेले भी उपस्थित थे। श्री लेले ने श्री अरविन्द से सभासदों को प्रणाम करने को कहा और तब तक मौन रहने का आदेश दिया जब तक उनके मस्तिष्क से उच्चतर स्रोत से वाणी स्वयं न फूट पड़े।[3] श्री अरविन्द

---

[1] 'लाइफ ऑफ श्री अरबिन्दो', पुराणी, पृ० १२२।

[2] 'लाइफ ऑफ श्री अरविन्दो' में पुराणी द्वारा उद्धृत पृ० १२३–२४।

[3] 'देखिए श्री अरविन्द' अय्यगार पृ० १४०–१४१ और 'मनायागा, न्यिकर पृ० ७१।

की पुष्टि की है कि सामूहिक ध्यान ही हुआ था और उस समय से बाद में जब भी आवश्यकता हुई तब निर्देश या वाणी की प्रेरणा एक मानसातीत शक्ति से ही मिलने लगी। बम्बई का 'वर्तमान परिस्थिति' विषयक उनका भाषण[1] सामूहिक एक विशिष्ट भाषण था और इस बात का प्रमाण था कि वक्ता गहरी अन्त प्रेरणाओं से प्रभावित होकर बोल रहा था। इसी भाषण में उन्होंने अपनी विख्यात घोषणा की कि राष्ट्रवाद एक धर्म है ईश्वर प्रदत्त दिव्य अमर और अजय धर्म। इसी भाषण में उन्होंने अपने इस विश्वास की स्पष्ट घोषणा भी की कि राष्ट्रीय आन्दोलन के पीछे एक दिव्य शक्ति है। यह शक्ति अजेय और अप्रतिहत है और सफल अवश्य होगी। आध्यात्मिक राष्ट्रीयता की यह घोषणा लेले के साथ की अनुभूतियों के तत्काल बाद ही की गई थी—यह तथ्य महत्वपूर्ण है। कलकत्ता वापस जाने पर भी उनके भाषणों में यही आध्यात्मिक प्रवृत्ति बनी रही।[2]

इस बीच बंगाल में घटनायें तेजी पकड़ती गई। कांग्रेस में फूट के बाद, वास्तव में शायद उससे पहले ही, भारत सरकार ने उग्रवादियों का कठोर दमन करने का निश्चय कर लिया था। सन १९०५ में लार्ड कर्जन के स्थान पर लॉर्ड मिंटो वाइसराय पद पर नियुक्त हुए। भारतीय राजनीति के क्रान्तिकारी तत्त्व का बलपूर्वक दमन करने का प्रबल प्रयत्न सरकार ने आरम्भ किया। यह नीति इतनी कठोर थी कि तत्कालीन भारत मंत्री लॉर्ड मोर्ले ने एक अवसर पर विवश होकर लॉर्ड मिंटो को ये शब्द लिखे

'मैं यह मानने को विवश हूँ कि राजद्रोह के लिए जितने कठोर दण्ड दिए जा रहे हैं, उन्हें देखकर मुझे बड़ी चिन्ता और निराशा हो रही है। निश्चय ही हमें व्यवस्था स्थापित रखनी है किन्तु कठोरता की अति ही व्यवस्था स्थापना का मार्ग नहीं है। उल्टे यह तो विस्फोट का मार्ग है।'[3]

---

[1] स्पीचेज में प्रकाशित (श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी) पृ० ५–२८।
[2] यथा—कलकत्ते में पाटीश मठ का अप्रैल १० १९०८ का भाषण 'स्पीचेज' पृ० ३१–३३।
[3] लाइफ एंड टाइम्स आफ सी० आर० दास पी० सी० राय (१९२७) द्वारा उद्धृत पृ० ५८ (पाद टिप्पणी)।

ब्रह्म बान्धव उपाध्याय, भूपेन्द्र नाथ दत्त और दूसरे लोगों पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया और उन्हें कठोर दण्ड दिए गए।[1] उसका अनिवार्य फल वही हुआ जिसकी स्पष्ट कल्पना मोर्ले ने कर ली थी। कुछ क्रुद्ध लोगों ने मुजफ्फरपुर के जिला न्यायाधीश श्री किंग्सफोर्ड को मार कर इसका प्रतिशोध लेना चाहा, क्योंकि कुछ समय पहले उन्होंने अदालत में एक छोटे लड़के को कोड़े लगाए जाने का हुक्म दिया था। १० अप्रैल सन् १६०८ को दो युवकों ने एक गाडी पर बम फेंका। उनका विचार था कि गाडी में किंग्सफोर्ड सवार है। बम गाडी पर गिरा और दो निर्दोष व्यक्तियों—श्री प्रिंगल कैनेडी की पत्नी और पुत्री—की जानें गई। यह सचमुच एक भयंकर और दुर्भाग्यपूर्ण भूल थी। एक महीने बाद 'वन्दे मातरम' में श्याम सुंदर ने लिखा

'इस प्रकार के अनाचारों के लिए हमारी प्राचीन परम्परा और संस्कृति में कोई स्थान नहीं है ।'[2]

फिर भी सरकार और ऐंग्लो इंडियन समाचार-पत्र दोनों ने अपना संतुलन और विवेक खो दिया और वे हर प्रकार के आक्षेप लगाने लगे।[3] पुलिस खोज करने लगी। जल्दी ही माणिकतल्ला में एक

---

[1] प्रसिद्ध ईसाई राष्ट्रवादी उपाध्याय ने अपने समाचार-पत्र 'सन्ध्या' के माध्यम से बंगाल में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने में बड़ा योग दिया था। उनके विरुद्ध चलाए गए मुकदमे का फैसला होने से पहले ही कैम्बेल अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई।

[2] वन्दे मातरम साप्ताहिक संस्करण १० मई १६०८।

[3] महायोगी में श्री दिवाकर ने इस घटना की प्रतिक्रियाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया है

मुजफ्फरपुर का अनाचार भारत में अपनी कोटि का पहला था। जिस मण्डली ने इसका संगठन किया होगा उसके अलावा किसी ने इसे श्लाघ्य नहीं समझा। लोगों की भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाएँ स्वभावतः भिन्न भिन्न थीं। यूरोपीय और ऐंग्लो इंडियन समाचार-पत्रों ने भय व्यक्त किया और ऐसी घटनाओं के प्रचण्ड दमन की मांग की। भारत की युवक पीढ़ी ने उसकी भलाई-बुराई की चिन्ता नहीं की उसे एक साहसिक काम माना और अपना आह्लाद व्यक्त किया। उदारपंथियों ने स्पष्ट शब्दों में उसकी भर्त्सना की। राष्ट्रवादियों ने भी प्रकट रूप में उसका तिरस्कार

छोटे बम कारखाने का पता लगा जिस पर उसने कब्जा कर लिया। बहुत से लोग गिरफ्तार हुए, जिनमे वारीन्द्र नाथ घोष भी थे। वह इस गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रधान सगठनकर्त्ता समझे जाते थे (जा ठीक ही था)। स्वभावतया यह सन्देह भी किया गया कि इस मामले मे श्री अरविन्द भी शामिल रहे होगे। और इसलिए ४ मई सन १९०८ को प्रात वह भी गिरफ्तार कर लिए गए। सभी कैदी अलीपुर जेल में रखे गए और जल्दी ही भारत का सबसे प्रसिद्ध और प्रख्यात मुकदमा चला जो माणिकतल्ला बम केस के नाम से जाना गया, पर जो 'अलीपुर षडयन्त्र केस' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

इस प्रसिद्ध मुकदमे की कायवाही का विस्तृत वणन यहा आवश्यक नही है, हालाकि वह बडा मनोरजक वणन होगा।[1] श्री अरविन्द का जमानत पर छोडने से इनकार किया गया और कई महीना तक प्रारम्भिक सुनवाई के बाद अन्त मे १९ अगस्त सन् १९०८ को मुकदमा सेशन सुपुर्द किया गया। ब्रिटिश सरकार ने श्री अरविन्द को षडयन्त्र मे फँसाने का हर सम्भव प्रयास किया और इस उद्देश्य से लब्धप्रतिष्ठ फौजदारी वकील श्री ईयडले नॉटन की सेवाएँ प्राप्त की। इसलिए श्री अरविन्द की प्रतिरक्षा का समुचित प्रबन्ध करना भी अनिवाय हो गया। यह जिम्मेदारी उनके निकटतम मित्रो ने अपने ऊपर ली, जिनमे उनकी बहन सरोजिनी भी थी। सरोजिनी ने चन्दे की अपील निकाली जिसमे उन्होने कहा

'मैं जानती हूँ कि मेरे सभी देशवासियो का राजनीतिक मत उनके (श्री अरविन्द के) जसा नही है। किन्तु मैं, सकाचपूवक ही सही पर यह अवश्य कह सकती हूँ कि शायद ही किसी भारतीय का उनकी

---

किया लकिन इसम निहित उद्देश्य और बलिदान पर सन्देह नही किया। उन्होन कहा कि यह काड दश म बढती हुइ निराशा का चिह्न है और सरकार को इस एक चेतावनी मानना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि यह काड कोई चुनौती नही है वह तो केवल इस बात का द्योतक है कि सरकार की दमन नीति देश को किस दिशा म ले जा रही है। पृ० ७४।

[1]इसका बढ़िया किन्तु सक्षिप्त विवरण 'श्री अरविन्द' (अय्यगार) म दिया गया है पृ० २५४–६७।

महती उपलब्धियों, उनके आत्म-त्याग, देश की स्वाधीनता के लिए उनका एकान्त समपण और उनके स्वभाव की उच्च आध्यात्मिकता से अपरिचय है। इन्ही वातो मे मुझ अवला को वल मिला है कि मैं हर भारत-सन्तान के सामने अपने ही भाई की नही, सवके भाई की रक्षा के लिए सहायता की भीख माँगने का साहस करूँ।"[1]

एक प्रतिभाशाली, युवा वकील चित्तरजन दास ने, जो वाद म 'देशवधु' नाम से प्रसिद्ध हुए, श्री अरविन्द की परवी का भार सम्भाला।[2]

मुकदमा कई महीनो तक लम्बा खिचता रहा। 'लाइफ ऐंड टाइम्स ऑफ सी० आर० दास'[3] से हमें विदित होता है कि 'इस मुकदमे मे २०६ साक्षियो के वयान लिए गए, ४,००० दस्तावेज पेश किए गए और वम, वदूक, गोला-वारूद, विस्फोटक, विषैले अम्ल और अन्य प्रस्फोटक मिलाकर ५,००० वस्तुएँ साक्ष्य-सामग्री के रूप मे प्रस्तुत की गई।' नियति का चक्र ऐसा कि मुकदमा डिस्ट्रिक्ट और सेशस जज श्री वीचक्राफ्ट की अदालत मे था, जो केम्ब्रिज म श्री अरविन्द के सहपाठी रहे थे और ग्रीक की परीक्षा म उनके वाद दूसरा स्थान पा सके थे।[4] सफाई मे श्री चित्तरजन का पक्ष प्रतिपादन भाषण आठ दिनो तक चला जो न्यायालय-वाक्पटुता का अपूव उदाहरण था। अत मे उपसहार करते हुए न्यायाधीश और दो असेसरा से उन्होने अपील की

'आपसे मेरा निवेदन यह है कि इस विवाद के शान्त हो जाने के वहुत समय वाद, यह अशान्ति और विक्षोभ समाप्त हो जाने के वहुत समय वाद तक अरविन्द देश प्रेम के कवि, राष्ट्रीयता के अग्रदूत और मानवता के अगाध प्रेमी समझे जाएँगे। उनकी मृत्यु के वहुत वर्षो वाद भी उनके शब्द भारत मे ही नही, समुद्र पार सुदूर देशो मे ध्वनित और प्रतिध्वनित होगे। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह महान व्यक्ति केवल

---

[1] 'वन्दे मातरम', १३ जून १६०८।
[2] 'फ्रंट आफ द नेशन'।
[3] पृ० ५६।
[4] 'श्री अरविन्दो' अय्यगार पृ० १६० १६१।

इस अदालत के कटघरे मे नही बल्कि इतिहास के उच्च न्यायालय के सामने खडा है।"[1]

१३ अप्रैल सन् १९०९ को दोनो असेसरो ने एक मत से निर्णय दिया कि अरविन्द अपराधी नही है और एक महीने बाद न्यायाधीश श्री बीचक्राफ्ट ने उनके निर्णय को स्वीकार करके श्री अरविन्द को मुक्त घोषित किया। इसका श्रेय श्री चित्तरजन की वाक्-शक्ति को उतना ही है, जितना अग्रेजी न्याय पद्धति मे निहित न्यायप्रियता और निष्पक्षता को।

अलीपुर षड्यन्त्र केस का यह सक्षिप्त विवरण यहा एक विशेष उद्देश्य से दिया गया है। इसका उद्देश्य उस समय के श्री अरविन्द के गहन आध्यात्मिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार करना है। दोष मुक्ति के शीघ्र बाद अपने प्रसिद्ध उत्तरपाडा भाषण[2] मे भावावेश मे उन्होने कहा

'जब मुझे गिरफ्तार करके लाल बाजार हजात (हवालात) पहुँचाया गया, तब कुछ समय के लिए मेरा विश्वास डिगने-सा लगा, क्योकि मैं उस (ईश्वर) के आशय की गहराई तक नही देख सका। इसलिए मैंने एक क्षण के लिए साहस खो दिया और हृदय की गहराइया से 'उसका' पुकारा, 'यह मुझको क्या हो गया है?' मुझे विश्वास था कि अपने देशवासियो के लिए कुछ करना मेरा उद्देश्य है और जब तक वह काम पूरा नही होता, मुझे तेरा' रक्षा-कवच मिलेगा। फिर भी मैं यहा क्यो हूँ और मुझ पर यह आरोप क्या है? एक दिन बीता, दूसरा बीता और तीसरा भी बीता। तब मेरे अन्तस्तल मे एक स्वर उठा, 'प्रतीक्षा करो और देखो।' तब मैं शान्त हो गया और प्रतीक्षा

---

[1]'लाइफ ऐंड टाइम्स आफ सी० आर० दास', पृ० ५६ ६४। देशबधु की तीक्ष्ण दूरदृष्टि ने स्पष्ट देख लिया था कि श्री अरविन्द कोई साधारण राजनीतिक कर्मी नहीं हैं बल्कि ऊँची नियति के धनी महामानव हैं।

[2]'स्पीचेज' (आश्रम) प० ५१ ६६। जेल से मुक्ति के शीघ्र बाद दिया गया उनका यह भाषण बहुत महत्त्व का है। जेल म उनकी आध्यात्मिक अनुभूतिया और बाद म सक्रिय राजनीति से उनके सन्यास पर इसी भाषण से रोशनी पडती है।

इस अदालत के कटघरे मे नही बल्कि इतिहास के उच्च न्यायालय के सामने खडा है।"[1]

१३ अप्रल सन् १९०९ को दोनो असेसरो ने एक मत से निणय दिया कि अरविन्द अपराधी नही है और एक महीने बाद न्यायाधीश श्री बीचक्राफ्ट ने उनके निणय को स्वीकार करके श्री अरविन्द को मुक्त घोषित किया। इसका श्रेय श्री चित्तरजन की वाक्-शक्ति को उतना ही है, जितना अग्रेजी न्याय पद्धति मे निहित न्यायप्रियता और निष्पक्षता को।

अलीपुर षड्यन्त्र केस का यह सक्षिप्त विवरण यहा एक विशेष उद्देश्य से दिया गया है। इसका उद्देश्य उस समय के श्री अरविन्द के गहन आध्यात्मिक विकास की पृष्ठभूमि तयार करना है। दोष मुक्ति के शीघ्र बाद अपने प्रसिद्ध उत्तरपाडा भाषण[2] मे भावावेश म उन्होने कहा

'जब मुझे गिरफ्तार करके लाल बाजार हजात (हवालात) पहुँचाया गया, तब कुछ समय के लिए मेरा विश्वास डिगने-सा लगा, क्योकि मैं उस (ईश्वर) के आशय की गहराई तक नही देख सका। इसलिए मैंने एक क्षण के लिए साहस खो दिया और हृदय की गहराइया से 'उसको' पुकारा, 'यह मुझको क्या हो गया है?' मुझे विश्वास था कि अपने देशवासियो के लिए कुछ करना मेरा उद्देश्य है और जब तक वह काम पूरा नही होता, मुझे 'तेरा' रक्षा-कवच मिलेगा। फिर भी मैं यहा क्यो हूँ और मुझ पर यह आरोप क्या है? एक दिन बीता, दूसरा बीता और तीसरा भी बीता। तब मेरे अन्त स्तल से एक स्वर उठा, 'प्रतीक्षा करो और देखो।' तब मैं शान्त हो गया और प्रतीक्षा

---

[1]'लाइफ ऐंड टाइम्स आफ सी० आर० दास', पृ० ५९ ६४। देशबन्धु की तीक्ष्ण दूरदृष्टि ने स्पष्ट देख लिया था कि श्री अरविन्द कोई साधारण राजनीतिक कर्मी नही हैं बल्कि ऊँची नियति के धनी महामानव हैं।

[2]'स्पीचेज' (आश्रम), पृ० ५१ ६६। जल से मुक्ति के शीघ्र बाद ही दिया गया उनका यह भाषण बहुत महत्त्व का है। जेल म उनकी आध्यात्मिक अनुभूतिया और बाद म सक्रिय राजनीति स उनके सन्यास पर इसी भाषण से रोशनी पडती है।

करने लगा। मुझे लाल बाजार से अलीपुर पहुँचाया गया और एक मास तक अन्य कैदियो से अलग तनहाई मे रखा गया। वहाँ रात-दिन अपनी अन्तरध्वनि की, ईश्वर के स्वरूप की, प्रतीक्षा करता रहा, यह जानने को कि 'उसको' मुझसे क्या कहना है और तब मुझको क्या करना है। इस एकान्त मे मुझे प्रथम अनुभूति हुई, पहला पाठ मिला। तब मुझे स्मरण हुआ कि मेरी गिरफ्तारी के एक महीने या उसमें कुछ पहले मुझे एक दैवी आह्वान मिला था 'सारे काम छोड दो, एकान्त में जाओ और अपने भीतर देखो—'आत्मान विद्धि' ताकि मैं 'उसके' और निकट पहुँच सकूँ।' मैं कमजोर था और उस पुकार को पहचान नही सका। मेरे काम मुझे बहुत प्रिय थे और अहकार वश मैं सोचता था कि मेरे बिना उन कामो को हानि पहुँचेगी, वे निरर्थक होकर नष्ट हो जाएँगे, इसलिए मैं उन्हें नही छोडूँगा। मुझे लगा कि 'उसने' मुझसे फिर कहा 'जिन बन्धनो को तोडने की शक्ति तुम मे नही थी, उनको तुम्हारे लिए मैंने तोड दिया है, क्योकि मुझे कभी अभीष्ट न था, कभी मेरी इच्छा न थी कि वे बन्धन आगे भी बने रहें। मुझे तुमसे एक और काम कराना था और उसी के लिए मैं तुम्हें लाया हूँ, तुम्हें वह सिखाना चाहता हूँ जो तुम स्वय नही सीख सकते, तुम्हें अपने काम के लिए तयार करना है।'

यह उद्धरण अनेक बातो का स्पष्टीकरण करता है। जेल मे रहते समय ही उन्हें एहसास हुआ कि राजनीति से ऊपर उठकर गहरी और विशाल आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर उन्हें आगे बढना है और तभी सक्रिय राजनीति से उनका मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध टूट गया। जेल मे श्री अरविन्द ने 'भगवद्गीता' का अध्ययन किया, जिसका उन पर गहरा प्रभाव पडा। उन्होंने कहा

'तब उसने गीता मेरे हाथ मे रख दी। 'उसकी' शक्ति ने मुझ मे प्रवेश किया और मैं 'गीता की साधना' करने मे सफल हुआ।'[1]

जेल मे श्री अरविन्द के आध्यात्मिक विकास की चरम परिणति

---

[1]उत्तरपाडा भाषण।

सवव्यापक परम सत्य की रहस्यमय अनुभूति म हुई। उन्होंने उसका विवरण इस प्रकार दिया है

"मैंने जेल को देखा जिसने मुझे लोगो से अलग एकान्त मे डाल दिया था, परन्तु मुझे लगा मैं उसकी ऊँची दीवारो मे कद नही था। मुझे तो 'वासुदेव' ने चारो तरफ से घेर रखा था। मैं अपनी कोठरी के सामने के पेड के नीचे टहला करता, लेकिन वह वृक्ष नही था, मुझे लगता, यह तो साक्षात 'वासुदेव' है। वह स्वय श्री कृष्ण है जो मुझ पर साया किए है। मैंने कोठरी की छडो को देखा, वह जाली जो द्वार-कपाट का काम करती थी उसे देखा और मुझे 'वासुदेव' दीखे। मुझे लगा, 'नारायण' ही मर प्रहरी बने थे। मैं उन मोट कम्बलो पर लेटा, जो मुझे मिले थे तो लगा कि मैं श्री कृष्ण के करवलय म पडा हूँ, अपन प्रिय और प्रेमी की भुजाओ मे लिपटा हूँ। मैंन देखा तो मेरे सामन मैजिस्ट्रेट नही था अभियोग पक्ष का वकील नही था। वहाँ तो श्री कृष्ण बैठे थे मुस्करा रहे थे—'डर लगता है क्या ?' उन्होंने कहा, 'मैं मानव मात्र मे विद्यमान हूँ। उनके काम और शब्द मेरे वश म हैं मैं मार्गदशक हूँ, इसलिए डरो मत। अपने उस काम की ओर ध्यान दो जिसके लिए मैं तुम्हें जेल में लाया हूँ और जब जेल से बाहर आओ तो कभी मत डरो, कभी मत हिचको। याद रखो कि मैं ही यह कर रहा हूँ, न तुम, न कोई और । मैं राष्ट्र हूँ, मैं उसका नवोत्थान हूँ, मैं वासुदेव हूँ, मैं नारायण हूँ, और जो मैं चाहूँगा, वही होगा, न कि जो दूसरे चाहेंगे। जो मैं करना चाहता हूँ उसे कोई मानवीय शक्ति रोक नही सकती।"[1]

जेल से छूटने के बाद के इन उद्धरणो और उनके अन्य कथनो म स्पष्ट ह कि कारावास के दिनो मे उनको एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक अनुभूति हुई और उनमे परिवतन आया। वह आध्यात्मिकता की ओर पहले ही मुडे हुए थे, लेकिन अलीपुर जेल म बाहर निकले तो इस दृढ विश्वास के साथ कि वह ईश्वर के हाथो मे एक निमित्त मात्र हैं कि राष्ट्रीय आदोलन का सचालन एक दिव्य शक्ति करती और

[1] उत्तरपाडा भाषण।

अप्रतिहत गति से कर रही है, कि आदोलन की विजय निश्चित है, चाहे वह स्वय उसमे रहे या न रहें। यह इस नये आत्मबोध से वर्तमान राजनीतिक समस्याओ के विषय मे और शीघ्र ही राजनीतिक कारवाई की समस्या के विषय मे भी, उनका दृष्टिकोण बदल गया।

एक वर्ष तक श्री अरविन्द जेल मे रहे। उस दौरान सरकार भी चुप नही रही। सूरत मे काग्रेस की फूट के बाद उसने एक ओर उदारपथियो को प्रोत्साहन और सरक्षण देने तथा दूसरी ओर उग्रवादियो का कठोर दमन करने की दोहरी नीति अपनाई। उदारपथियो ने इसका खुलकर समर्थन किया। सन् १९०७ के सूरत सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण मे, जो दिया नही जा सका था, रास बिहारी घोष ने कहा था कि 'यदि सरकार उदारपथियो को अपने पक्ष मे कर सके तो वे नये दल को नाम-शेष कर देंगे, देश की नियति पर पडी अशुभ छाया को मिटा देंगे।' इस नीति का अनुसरण करके सरकार ने अनेक उग्रवादी नेताओ को गिरफ्तार करके जेलो मे डाल दिया, तिलक आदि अनेक नेताओ को देश निर्वासन का दण्ड दिया। इस तरह श्री अरविन्द के जेल से बाहर आने तक दोहरा परिवर्तन हो चुका था। जेल मे प्राप्त आध्यात्मिक अनुभूतिया के परिणाम-स्वरूप स्वय उनमे बहुत परिवर्तन आ गया था। दूसरी तरफ, इस बीच भारत भी परिवर्तित हो चुका था। इस विषय मे उत्तरपाडा के भाषण मे श्री अरविन्द ने स्वय कहा

'अब मैं बाहर आया हूँ तो सब कुछ बदला हुआ देख रहा हूँ। एक,[1] जो सदा मेरे साथी थे और मेरे काम से सम्बद्ध थे, आज बर्मा मे कैद हैं, दूसरे[2] उत्तर मे जेल मे पडे सड रहे है। बाहर आकर मैंने चारो तरफ नजर दौडाई, चारो ओर उन लोगो को ढूँढा, जिनसे मुझे प्रेरणा और सलाह मिला करती थी। वे मुझे कही न दीखे। बात यही तक नही थी। जब मैं जेल गया था तब सारे देश मे राष्ट्रीय आशा की लहर

---

[1]तिलक, जो माण्डले (बर्मा) निष्कासित कर दिए गए थे।
[2]लाला लाजपत राय।

परिव्याप्त थी—अधोगति से उठने वाले लाखो लोगो की आशा। जेल से बाहर आकर मैंने वह स्वर सुनना चाहा, लेकिन उसकी जगह मुझे मिली निस्तब्धता। देश मे सन्नाटा छाया हुआ था और लोग घबराए हुए थे। तब हमारे सामने स्वप्नो से भरा ईश्वर का प्रकाशमय स्वर्ग था, अब हमारे सिर के ऊपर एक वज्र तुल्य आकाश है जहाँ प्रतुल मानवीय मेघ गर्जन है और प्रचड तडित निर्घोष हो रहा है।"[1]

यह सचमुच ही घोर निराशाजनक वातावरण था, सशक्त मानव को भी भीरु बनाने और उसका विश्वास नष्ट करने वाला वातावरण। पर ऐसा कुछ नही हुआ। श्री अरविन्द मोर्चे के लिए कटिबद्ध होकर राजनीतिक कारवाइयो मे और गहरे कूद पडे। यह तथ्य प्रमाण है कि श्री अरविन्द ने निराशा या भय के कारण सक्रिय राजनीति से सन्यास नही लिया था। उनका तेज इतनी आसानी से विचलित होने वाला नही था। एक वर्ष के कारावास ने, जिसे एक जीवनी-लेखक ने 'आश्रमवास'[2] कहा है—'उनकी सहन शक्ति और आस्था दृढतर कर दी थी। उनके बाद के भाषणो और कामो से यह बहुत स्पष्ट है। उपर्युक्त भाषण मे उन्होने आगे कहा है 'पर एक बात मुझे मालूम थी, कि जिस ईश्वर की निस्सीम शक्ति ने यह आवाज और आशा उत्पन्न की थी, वही परम शक्ति इस नीरवता की भी हेतु है ताकि राष्ट्र एक क्षण के लिए रुक कर अपने अन्तस मे झाँके और 'उसकी' इच्छा को जाने। इस निस्तब्धता ने मुझे निराश नही किया है।"[3] कुछ दिनो के बाद झालकटी मे दिए भाषण मे उन्होंने कहा 'जो राष्ट्र एक बार जाग उठा है, ईश्वर के आह्वान ने जिसका उद्बोधन कर दिया है उसको भौतिक प्रतारणाओ से दमन किया जा सकेगा, यह विचार निराधार और मूर्खतापूर्ण है। ऐसी परिस्थितियो मे लोगो के मन मे यह विचार बार-बार आया है और इतिहास ने बार-बार उसे गलत सिद्ध किया है।

---

[1] उत्तरपाडा भाषण।
[2] 'श्री अरविन्द' अध्याय अध्याय १०।
[3] उत्तरपाडा भाषण।

राष्ट्रवादी दल के अनुयायियों को उस योग्य नेता के आगमन की प्रतीक्षा करनी ही है।'[1]

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने स्वयं को नियति प्रेरित नेता मानना छोड दिया था—अगर कभी माना था तो! यह स्पष्ट है कि उनके मन मे आध्यात्मिक तत्त्व अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया और शुद्ध राजनीतिक तत्त्व का महत्त्व क्षीण होने लगा। 'वन्दे मातरम' मे राजनीतिक दृष्टिकोण की धारा मुख्य थी और आध्यात्मिक तत्त्व का केवल अन्त प्रवाह था, पर 'कर्मयोगिन' मे बात उलट गई।

सन् १६०६ मे सरकार राष्ट्रवादी दल जैसे एकमात्र सगठन की, जो जनता के विरोध को प्रकट करने का न्याययुक्त और शान्तिमय मार्ग प्रस्तुत करता था, गतिविधियो को बाधित करने मे सरकार सफल हो गई थी। फलस्वरूप आतकवादी अनाचार बढते गए। सरकारी दमन भी बढता गया। 'कर्मयोगिन' मे श्री अरविन्द ने गोली बारी और हत्याओ की कडी आलोचना की और सरकार की दमननीति को उनका दोषी ठहराया। अन्त मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बगाल भर मे फैली आतकवाद की वर्तमान लहर को थामने मे राष्ट्रवादी असमर्थ हैं। इसलिए राष्ट्रवादी अपनी बिलकुल न्याययुक्त और शान्तिमय राजनीतिक कारवाइया स्थगित कर दें और सरकार को ही उस स्थिति से निबटने दे क्योकि सरकारी नीतियो ने ही इस स्थिति को जन्म दिया था। ५ फरवरी १६१० को उन्होने 'कर्मयोगिन' मे लिखा

'हम अपने मित्र राष्ट्रवादियो से प्रार्थना करते है कि वे एक ओर खडे हो जाएँ और इस बहुमुखी आतक का सामना करने के लिए ऐंग्लो-इडियन राजनीतिज्ञो को कुछ समय तक खुला छोड दें।'

राजनीति को छोडकर एकान्तवास का उनका अपना निश्चय सर्वथा आकस्मिक था। 'ऑन हिमसेल्फ' मे वह स्वय इसका वर्णन करते है इसलिए उनके निन्दको द्वारा दी गई परस्पर विरोधी

[1]एक दशक के बाद गाँधी जी का उदभव हुआ। उन्ही के नेतृत्व मे राष्ट्रवादी अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। क्या यह कथन उनके आगमन की भविष्यवाणी थी?

राष्ट्रवादी दल के अनुयायियों को उस बड़े नेता के आगमन की प्रतीक्षा करनी ही है।"

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने स्वयं को नियति प्रेरित नेता मानना छोड़ दिया था—अगर कभी माना था तो।[1] यह स्पष्ट है कि उनके मन में आध्यात्मिक तत्त्व अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया और शुद्ध राजनीतिक तत्त्व का महत्त्व क्षीण होता गया। 'वन्दे मातरम्' में राजनीतिक दृष्टिकोण की धारा मुख्य थी और आध्यात्मिक तत्त्व का मन्द अन्त प्रवाह था, पर 'कर्मयोगिन' में बात उलट गई।

सन् १६०६ में सरकार राष्ट्रवादी दल जैसे एकमात्र संगठन की, जो जनता के विरोध को प्रकट करने का न्यायपूर्ण और शान्तिमय मार्ग प्रस्तुत करता था, गतिविधियों को बाधित करने में सफल हो गई थी। फलस्वरूप आतंकवादी अत्याचार बढ़ने गए। सरकारी दमन भी बढ़ता गया। 'कर्मयोगिन' में श्री अरविन्द ने गोली बारी और हत्याओं की कड़ी आलोचना की और सरकार की दमननीति को उनका दोषी ठहराया। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बंगाल भर में फैली आतंकवाद की वर्तमान लहर को थामने में राष्ट्रवादी असमर्थ हैं। इसलिए राष्ट्रवादी अपनी बिलकुल न्यायमुक्त और शान्तिमय राजनीतिक कार्रवाइयाँ स्थगित कर दें और सरकार को ही उस स्थिति से निबटने दें क्योंकि सरकारी नीतियों ने ही इस स्थिति को जन्म दिया था। ५ फरवरी १६१० को उन्होंने 'कर्मयोगिन' में लिखा

'हम अपने मित्र राष्ट्रवादियों से प्रार्थना करते हैं कि वे एक ओर खड़े हो जाएँ और इस बहुमुखी आतंक का सामना करने के लिए ऐंग्लो-इंडियन राजनीतिज्ञों को कुछ समय तक खुला छोड़ दें।'

राजनीति को छोड़कर एकान्तवास का उनका अपना निश्चय सर्वथा आकस्मिक था। 'ऑन हिमसेल्फ' में वह स्वयं इसका वर्णन करते हैं इसलिए उनके निन्दकों द्वारा दी गई परस्पर विरोधी

---

[1]एक दशक के बाद गांधी जी का उदभव हुआ। उन्हीं के नेतृत्व में राष्ट्रवादी अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। क्या यह कथन उनके आगमन की भविष्यवाणी थी?

व्याख्याओ के बावजूद उन्हें प्रामाणिक मानना चाहिए। इन व्याख्याओ के स्पष्टीकरण के लिए ही उन्होंने कहा था

'राजनीति से सन्यास लेने का वास्तविक विवरण यह है। मैं 'कर्मयोगिन' के दफ्तर मे था। तभी मुझे एक सूचना मिली। एक बडे पुलिस अधिकारी का कहना था कि दूसरे दिन दफ्तर की तलाशी ली जाएगी और मैं गिरफ्तार किया जाऊँगा। दफ्तर की तलाशी सचमुच हुई भी, लेकिन मेरे विरुद्ध कोई वारट नही आया, उसके बारे मे तब तक कोई सुनगुन नही हुई, जब तक पत्र के विरुद्ध बाद मे केस नही चला। लेकिन तब तक मैं चन्द्रनगर से पाडिचेरी रवाना हो चुका था। मैं आगामी घटनाओ के बारे मे अपने मित्रो की जोशपूर्ण टिप्पणियाँ सुन रहा था कि मुझे ऊपर से मेरे सुपरिचित स्वर मे एक आज्ञा मिली, केवल तीन शब्दो मे—'चन्द्रनगर को जाओ'। बस, कोई दस मिनट के अन्दर मैं चन्द्रनगर जानेवाली नाव मे सवार था। उसके बाद उसी 'आज्ञा' के अनुसार मैं चन्द्रनगर भी छोडकर ४ अप्रैल १९१० को पाडिचेरी जा पहुँचा।'[1]

उन्होंने यह रोचक टिप्पणी भी की

'सूरत सम्मेलन के बाद, बडौदा, पूना और बम्बई मे लेले के साथ रह कर जब मैंने उनसे बम्बई मे विदा ली, तब मैंने निस्सकोच अन्त-करण के मार्गदर्शन का अनुगमन करने और ईश्वरेच्छा के अनुसार चलने का नियम बनाया। जेल की एक वर्ष की अवधि मे जो आध्यात्मिक विकास हुआ उसने इसे परम नियम बना दिया। अन्तस् से मिले 'आदेश' का तत्काल पालन करने का कारण यही था।'[2]

इससे सक्षेप मे पूरी स्थिति का उद्घाटन हो जाता है जो इस अवधि मे हुए उनके मानसिक परिवर्तन के सर्वथा अनुरूप है। श्री अरविन्द के 'ओपेन लेटर' के पहले प्रकाशन के आठ मास बाद सरकार ने उनके विरुद्ध तीसरा अभियोग उनके चन्द्रनगर से रवाना होने के समय चलाया। सरकार ने आरोप लगाया पर श्री अरविन्द ने अपनी

[1] 'श्री अरविन्दो आन हिमसेल्फ ऐंड आन द मदर' (आश्रम) पृ० ६५ ६६।

[2] वही। एक महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प बात यह है कि महात्मा गाँधी को भी कठिन परिस्थितियो मे 'अन्तर्ध्वनि' से ही प्रेरणा मिलती थी।

राष्ट्रवादी दल के अनुयायियों को उस योग्य नेता के आगमन की प्रतीक्षा करनी ही है।'

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने स्वयं को नियति प्रेरित नेता मानना छोड़ दिया था—अगर कभी माना था तो।¹ यह स्पष्ट है कि उनके मन में आध्यात्मिक तत्त्व अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया और शुद्ध राजनीतिक तत्त्व का महत्त्व क्षीण होता गया। 'वन्दे मातरम्' में राजनीतिक दृष्टिकोण की धारा मुख्य थी और आध्यात्मिक तत्त्व का केवल अन्तःप्रवाह था, पर 'कर्मयोगिन' में धारा उलट गई।

सन् १९०९ में सरकार राष्ट्रवादी दल और उसके मात्र संगठन को, जो जनता के विरोध को प्रकट करने का न्यायपूर्ण और शान्तिमय मार्ग प्रस्तुत करता था, गतिविधियों को बाधित करने में सफल हो गई थी। फलस्वरूप आतंकवादी अनाचार बढ़ने लगे। सरकारी दमन भी बढ़ता गया। 'कर्मयोगिन' में श्री अरविन्द ने गोली-बारी और हत्याओं की कड़ी आलोचना की और सरकार की दमननीति को उनका दोषी ठहराया। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बंगाल भर में फैली आतंकवाद की वर्तमान लहर को थामने में राष्ट्रवादी असमर्थ हैं। इसलिए राष्ट्रवादी अपनी बिलकुल न्यायपूर्ण और शान्तिमय राजनीतिक कार्रवाइयाँ स्थगित कर दें और सरकार को ही उस स्थिति से निबटने दें क्योंकि सरकारी नीतियों ने ही इस स्थिति को जन्म दिया था। ५ फरवरी १९१० को उन्होंने 'कर्मयोगिन' में लिखा

'हम अपने मित्र राष्ट्रवादियों से प्रार्थना करते हैं कि वे एक ओर खड़े हो जाएँ और इस बहुमुखी आतंक का सामना करने के लिए ऐंग्लो-इंडियन राजनीतिज्ञों को कुछ समय तक खुला छोड़ दें।'

राजनीति को छोड़कर एकान्तवास का उनका अपना निश्चय सर्वथा आकस्मिक था। 'ऑन हिमसेल्फ' में वह स्वयं इसका वर्णन करते हैं इसलिए उनके निन्दकों द्वारा दी गई परस्पर विरोधी

---

¹एक दशक के बाद गांधी जी का उद्भव हुआ। उन्हीं के नेतृत्व में राष्ट्रवादी अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। क्या यह कथन उनके आगमन की भविष्यवाणी थी?

खंड ५

# राजनीतिक चिन्तक के रूप मे श्री अरविन्द

# का मूल्यांकन

नहीं है हालांकि वह देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील है। यह केवल एक राजनीतिक आन्दोलन नहीं है हालांकि उसने पूर्ण राजनीतिक स्वातन्त्र्य को अपना लक्ष्य घोषित किया है। वह तो अत्यधिक आध्यात्मिक आन्दोलन है और उसका उद्देश्य केवल आर्थिक जीवन की उन्नति या राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं बल्कि सभी अर्थों में भारतीय पुरुष और नारी वर्गों की मुक्ति है।[1] इस परम आदर्श की सृष्टि में श्री अरविन्द का महान योग है।

(२) अब हम राजनीतिक चिन्तक के रूप में उनकी दूसरी उपलब्धि पर विचार करें। यह उपलब्धि थी विदेशी शासन से मुक्त पूर्ण स्वातन्त्र्य के आदर्श की उनकी व्याख्या और राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी बनाने में उनका योग। अपने अल्प राजनीतिक जीवन के बावजूद श्री अरविन्द ने आन्दोलन में एक नया तेज अनुप्राणित करने में और इस तरह देश का राजनीतिक स्वरूप बदलने में बहुत योग दिया। हम देख चुके हैं कि १८९३-९४ में ही न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड में उन्होंने राजनीति के क्रान्तिकारी दर्शन का प्रतिपादन किया था। बाद में उनकी अथक समर्पित सक्रियता ने बंग भंग विरोधी आन्दोलन के समय बंगाल की जनता को राजनीतिक दृष्टि से प्रेरित करके महान शक्तिशाली बना दिया। जन मन और घटनाओं पर उनके प्रभाव का रहस्य इस बात में निहित है कि उन्होंने लोगों के सामने एक उपयुक्त आदर्श रखा—पूर्णस्वराज का आदर्श। इस स्वतन्त्रता की खुल कर माँग करने का साहस उनमें था। उनकी माँग विदेशी शासकों से दया की भीख नहीं था वह तो भारत के अनन्य जन्म सिद्ध अधिकार की माँग थी। मातृभूमि के दैवी रूप की धारणा ने उन्हें सीधे और अनिवार्य रूप से विदेशी शासन से मातृभूमि की पूर्ण मुक्ति की माँग करने के लिए प्रेरित किया और श्री अरविन्द ने इस सिद्धान्त का पूरे देश में प्रेम के आवेग से प्रचार किया। उन्होंने स्वातन्त्र्य के आदर्श का समर्थन तो किया ही उदारपन्थियों के संकीर्ण और कायर राजनीतिक मंच भी नष्ट

[1] दि वडराक आफ इंडियन नेशनलिज्म—वन्दे मातरम साप्ताहिक संस्करण १४ जून सन १९०८।

अध्याय १५

# राजनीतिक चिन्तक के रूप मे श्री अरविन्द का मूल्याकन

सन १८६३ म इग्लैण्ड स वापस आने स लकर १६१० म च द्रनगर रवाना हान तक की अवधि म श्री अरवि द के राजनीतिक विचारा का सर्वेक्षण करन के वाद अव हम आधुनिक राजनीतिक विचारधारा को उनकी दन का मूल्याकन करने का प्रयत्न करेंगे। यह मूल्याकन चार शीपका के अन्तगत सुविधापूवक किया जा सकता है

(१) आध्यात्मिक राष्टवाद और मातभूमि के दैवी रूप की उनकी धारणा जिसने भारत के स्वतन्त्रता-आन्दालन का गढ महत्त्व दिया

(२) विदशी शासन म मुक्त पूण स्वातन्त्र्य प्राप्ति का आदश प्रतिपादन और राष्टीय आन्दोलन को उत्तजक प्रेरणाप्रद और क्रान्तिकारी बनान म उनका योगदान

(३) बहिष्कार और सत्याग्रह के सिद्धान्त और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आवश्यक हाने पर शक्ति प्रयोग सिद्धा त के प्रतिपादन म उनका योग

(४) ससार के मामला म भारत के दैवनियोजित वृहत्तर योग विषयक उनका स्वप्न और मानव एकता का उनका प्रवुद्ध आदश जिस अन्त म निश्चय ही राष्ट्रीय उन्नति मात्र म कही ऊपर उठना चाहिए।

इन वाता का सविस्तार अध्ययन पुस्तक म पहल किया जा चुका है। यहा श्री अरवि द के प्रमुख योगदान का सक्षिप्त वणन करना ही यथष्ट है।

(१) पहल आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और मातृभूमि के दैवी रूप

की उनकी धारणा पर विचार करें। यह धारणा उनके राजनीतिक सिद्धान्त का आधार रही है और इस रूप में उनकी सभी रचनाओं में अन्तर्निहित है। मातृभूमि के दैवी रूप की धारणा भारत में प्राचीन काल के आरम्भकाल से प्रचलित धारणा है। भारत को माता—भूमि, प्रायः गणराज्यों की आदि धार्मिक पुस्तकों में पृथ्वी का—विशेष कर उसके उस भाग का जिसमें आर्य निवास करते थे—आर्यों की समस्त समृद्धि और आस्था शक्ति की स्रोत मानकर और धारक मान कर पूजा जाता रहा है। वेदों में पृथ्वी की स्तुति में समर्पित अनेक मंत्र हैं और हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों में पृथ्वी की पूजा एक आवश्यक अंग है। यह परम्परा भारत में आधुनिक काल तक अटूट चली आई है। इस युग में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने आनन्द मठ में मातृभूमि के दिव्य रूप की स्तुति में अपना विख्यात मंत्र 'वन्दे मातरम्' लिखा। श्री अरविन्द का योगदान इसमें यह है कि उन्होंने इस गूढ़ और धार्मिक धारणा को ग्रहण किया, उसे इस शताब्दी के आरम्भ में भारत की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया और उसे प्रेरणा और शक्ति के अजस्र स्रोत का रूप दे दिया। उनके राष्ट्रवाद में धर्म की और उसके परिणामस्वरूप अनिवार्य आत्म त्याग और भारतमाता के चरणों में बलि देने की धारणा की प्रतिष्ठापना उनकी गहन और प्रबल धार्मिकता का उत्कृष्ट प्रमाण है। उनका राजनीतिक जीवन अल्पकालिक था फिर भी उन्होंने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सार-तत्त्व को इस ढंग से प्रतिपादित किया कि वह शक्ति और भावना की तीव्रता में आज भी अद्वितीय है। इस तरह उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया आयाम दिया, शुद्ध भौतिक स्तर से उसको ऊपर उठाया और उसके सामने एक उद्बुद्ध और उद्बोधक आध्यात्मिक आदर्श रखा। उनका 'भवानी मन्दिर' भारतीय क्रान्तिकारियों का सिद्धान्त वाक्य बन गया और अपने ओठों पर मुस्कान और 'वन्दे मातरम्' के नारे के साथ सहस्रों देशभक्तों ने विदेशियों के दमन का सामना किया और मृत्यु तक का वरण किया। समग्र राष्ट्रीय आन्दोलन की उनकी धारणा उनके ही शब्दों में सुन्दर अभिव्यक्ति पा सकी है: भारत में नये आन्दोलन की शक्ति उसके परम आदर्शवाद में है। वह केवल एक आर्थिक आन्दोलन

नहीं है हालांकि वह देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील है। यह केवल एक राजनीतिक आन्दोलन नही है, हालांकि उसने पूर्ण राजनीतिक स्वातन्त्र्य को अपना लक्ष्य घोषित किया है। वह तो अत्यधिक आध्यात्मिक आन्दोलन है और उसका उद्देश्य केवल आर्थिक जीवन की उन्नति या राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नही, बल्कि सभी अर्थों मे भारतीय पुरुष और नारी वर्गो की मुक्ति है।'[1] इस 'परम आदर्श' की सृष्टि म श्री अरविन्द का महान योग है।

(२) अब हम राजनीतिक चिन्तक के रूप मे उनकी दूसरी उपलब्धि पर विचार करें। यह उपलब्धि थी विदेशी शासन से मुक्त पूर्ण स्वातन्त्र्य के आदर्श की उनकी व्याख्या और राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी बनाने म उनका योग। अपने अल्प राजनीतिक जीवन के बावजूद श्री अरविन्द ने आन्दोलन मे एक नया तेज अनुप्राणित करने म और इस तरह देश का राजनीतिक स्वरूप बदलने मे बहुत योग दिया। हम देख चुके है कि १८९३ ९४ मे ही 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' मे उन्होंने राजनीति के क्रान्तिकारी दर्शन का प्रतिपादन किया था। बाद मे उनकी अथक समर्पित सक्रियता ने बग-भग विरोधी आन्दोलन के समय बगाल की जनता को राजनीतिक दृष्टि से प्रेरित करके महान शक्तिशाली बना दिया। जन-मन और घटनाओ पर उनके प्रभाव का रहस्य इस बात मे निहित है कि उन्होंने लोगो के सामने एक उपयुक्त आदर्श रखा—'पूर्णस्वराज' का आदर्श। इस स्वतन्त्रता की खुल कर माग करने का साहस उनमे था। उनकी माग विदेशी शासको से दया की भीख नही थी, वह तो भारत के अनन्य जन्म सिद्ध अधिकार की माग थी। मातभूमि के दैवी रूप की धारणा ने उन्हें सीधे और अनिवार्य रूप से विदेशी शासन से मातृभूमि की पूर्ण मुक्ति की माग करने के लिए प्रेरित किया और श्री अरविन्द ने इस सिद्धान्त का पूरे देश प्रेम के आवेग से प्रचार किया। उन्होंने स्वातन्त्र्य के आदर्श का समर्थन तो किया ही, उदारपथियो के सकीर्ण और कायर राजनीतिक मच भी नष्ट-

---

[1] 'दि वेंडरात आफ इंडियन नेशनलिज्म'—वन्दे मातरम साप्ताहिक सस्करण १४ जून सन् १९०८।

स्पष्ट किया। उदारपंथियों की याचना नीति पर चुभती हुई व्यंग्योक्ति और अवज्ञा करना कर उनका मार्ग-समर्थन में वृद्धि करना और अधिक क्रान्तिकारी राजनीतिक कार्यक्रम स्वीकार करने के लिए भारतीय जनता को तैयार करने में उनकी रचनाएँ नितान्त सफल रहीं।

यह भी उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द उन प्रथम भारतीय नेताओं में थे, जिन्होंने जनसमुदाय में उत्साह पैदा करने, उसे राष्ट्रीय मामलों में भाग लेने की प्रेरणा देने, भारतीय राजनीति में सम्मिलित विभिन्न वर्गों का सहयोग लेने और दूसरे शब्दों में सारे आन्दोलन को लोकतन्त्रीय रूप देने की परम आवश्यकता का अनुभव किया था। सन् १८९३ में ही उन्होंने इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया था और कांग्रेस की कटु आलोचना की थी कि वह जनसमुदाय के समर्थन से रहित एक सकुचित और सीमित दल मात्र है। वह आधुनिक भारत के सर्वप्रथम लोकतन्त्रवादी विचारकों में से एक हैं।

उनके विचार का दूसरा पहलू, जिसके कारण वह राष्ट्रीय आन्दोलन में नया जीवन डालने में सफल हो सके, था माँ की मुक्ति के लिए उसकी सन्तानों की दुःख झेलने की तत्परता को अनिवार्य मानना। कायर, सस्कृत, रूढिवादियों के विपरीत, जो सोचते थे कि अंग्रेज अपनी दानशीलता और उपकार भावना के कारण भारत को एक एक टुकडा करके स्वतन्त्रता दे देंगे, श्री अरविन्द ने आत्मविश्वास के साथ जोर दिया कि लक्ष्य की सिद्धि से पहले रक्तपात और बलिदान (*बलि वैश्व देव*)*से संस्कार आवश्यक है। पूर्ण स्वराज का प्रतिपादन* मातृभूमि के दैवी रूप और स्वातन्त्र्य समर के लगभग धार्मिक स्वरूप के सिद्धान्त का निरूपण, लक्ष्य सिद्धि के लिए कष्ट-सहन और त्याग की आवश्यकता पर जोर, सभी ने मिलकर विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष में क्रान्तिकारी तेज उँडेल दिया। भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के अधिकार के उनके प्रचंड समर्थन ने उदारपंथियों के विनम्र आदर्शों को पानी की तरह बहा दिया और वे जन-समर्थन से अलग हो गए।

भारतीय तेज को सजीवतर बनानेवाला एक और तथ्य उनके दर्शन में था—भारतीय संस्कृति के वास्तविक उत्स और उसकी आध्यात्मिक विरासत की सच्ची महिमा का पुनः मूल्यांकन। उनके

लेखो ने, जो अद्भुत विद्वत्ता और प्रज्वलित देशभक्तिपूर्ण आवेश से परिपूर्ण है, प्रवुद्ध वर्ग मे हलचल मचा दी। क्रान्तिकारी आन्दोलन के सभी वडे नेताओ मे अरविन्द की साहित्यिक प्रतिभा स्वाधिक प्रभावशाली थी और इसी कारण वह भावी भारत के अपने सुन्दर स्वप्न को उत्सुक और ग्रहणशील जन-मानस तक पहुँचा सके। साथ ही, उनके प्रभावशाली लेख अग्रेजो द्वारा सायास पोषित इस भ्रम को दूर करने मे सहायक हुए कि व सास्कृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। विदेशी शासन से भारत को पूर्ण मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी वातावरण पैदा करने मे उनका योगदान भी वहुत अधिक था। वह रवि वावू के वदग्ध्यपूर्ण शब्दो मे 'भारतीय आत्मा की स्वतन्त्र मूर्त्तिमती वाणी थे।'

श्री अरविन्द और दूसरे क्रान्तिकारी नेताओ की आलोचना की जाती है कि उन्होने सामाजिक सुधार के महत्त्वपूर्ण विषय की अवहेलना की। इस आक्षेप के विषय मे भी यहा एक वात कहना समीचीन होगा। यह सच है कि उन्होने सार्वजनिक जीवन के इस पहलू पर, जो अव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है, ज्यादा जोर नही दिया। लेकिन इसका कारण यह नही था कि उनकी दृष्टि मे सामाजिक सुधार महत्त्वहीन था। इसका कारण सिर्फ उनका यह विश्वास था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के वाद ही वास्तविक समाज सुधार का प्रयत्न सफल हो सकता है। वे इस तरह सुधार के महत्त्व को मानते थे, लेकिन उनकी धारणा थी कि राजनीतिक स्वातन्त्र्य से पहले यह सव हो नही सकता। स्वतन्त्र होने से पहले समाज सुधार की कोशिश उनकी दृष्टि मे 'उल्टे वाँस वरेली को' ही नही थी, वल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन को सशक्त वनानेवाली शक्तियो को क्षीण करने वाली वात भी थी। श्री अरविन्द के उदारपंथी नेतृत्त्व पर सामाजिक प्रश्नो के व्यामोह मे पडने का आक्षेप का कारण यह विचार था, न कि समाज सुधार के प्रति विरक्ति।

(३) राजनीतिक विचारक की हैसियत से श्री अरविन्द ने वहिष्कार और सत्याग्रह के सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस पुस्तक मे इसका विस्तृत प्रतिपादन हो चुका है और हम देख चुके है कि वह

इस उत्कृष्ट आदश न एक तरह से पहले ही आभास दे दिया, कि स्वतन्त्र भारत विश्व शान्ति के पोषण को महत्त्वपूण मानगा और उसमे विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करेगा। श्री अरविन्द के राष्ट्रवाद ने कभी भी सकुचित अ घ देश भक्ति या रुढिवाद का घटिया रूप नही लिया। वह सदा अन्तर्राष्ट्रीयता के स्तर पर ही रहा और प्रचण्ड राज नीतिक विवादो की तीव्रता मे भी मानवीय एकता का आदश उनकी दष्टि से कभी आझल नही हुआ, जो स्थानीय समस्याआ के बहुत ऊपर था और जिसका ध्येय सम वयात्मक आध्यात्मिकता द्वारा सभी विरोधो का शमन करना था। आवेगपूण 'भवानी मन्दिर' और 'वन्दे मातरम' के प्रारम्भिक ओज से लेकर 'दि आइडियल आफ ह्यूमन यूनिट', 'एसेज ऑन द गीता' और 'द लाइफ डिवाइन' जमी बाद की स्मारक कृतिया के प्रौढ चिन्तन तक सवत्र यह प्रसग सतत बना रहा है। और इसे आधुनिक भारत के राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र मे उनके मुख्य योगदानो म समझा जाना चाहिए। जब उन्हाने लिखा था कि इस विचार का केवल शास्त्र चर्चा मात्र का महत्त्व था, क्योकि भारत असल म स्वतन्त्र नही था, फिर भी राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वर को ऊँचा उठान म और उसके सामने राष्ट्रीय स्वत त्रता से भी उत्कृष्ट आदश का रखने मे वह सफल हुआ। मानवीय एकता का आदश कुछ हद तक प्राप्त हो सका है, यह श्री अरविन्द की दूरदर्शिता का एक प्रमाण है पर वह अभी तक पूरी तरह कार्यान्वित नही हा सका है जो इस बात का द्योतक है कि मानवता अभी तक पूरी तरह ऊपर नही उठ सकी है।

वत्तमान भारत के राजनीतिक विचार-क्षेत्र मे श्री अरविन्द एक महान राजनीतिक चिन्तक थे। राष्ट्रीय आन्दोलन का गूढ और आध्यात्मिक महत्त्व देने, उसके सामन पूण स्वराज का प्रेरणाप्रद आदश रखने, भारत की विशिष्ट सास्कृतिक परम्परा के तज मे नव

---

भारतीय राष्ट्रवाद के इस व्यापक पक्ष पर बहुत जोर दिया है। उदाहरणार्थ वन्दे मातरम के द एशियाटिक मन' (१२ अप्रल सन १९०८) द न्यू आइडीयल (१२ अप्रल सन १९०८) आइडीयल फेस टु फस (२ मई सन् १९०८) और द वेडराक आफ इण्डियन नशनलिज्म (४ जून सन १९०८) शीषक सम्पादकीय लेख देखें।

जीवन अनुप्राणित करने, स्वतन्त्रता के आदश की प्राप्ति के लिए एक राजनीतिक योजना तयार करने, तथा सारे आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय और मानव एकता के आदश के मुख्य प्रसग मे रखने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को है। केवल पांच वष के अल्पकालीन सक्रिय राजनीतिक जीवन म एक व्यक्ति का इतना सब कर पाना वडे महत्त्व की वात है। श्री अरविन्द वत्तमान भारत के वड निर्माताआ मे गिन जा सकते है क्याकि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के उस प्रासाद की नीव डालन मे उन्हान महान योग दिया, जिसे महात्मा गाधी और अन्य नेताओ ने वाद मे निर्मित किया। सन् १६१० के वाद भी भारतीय स्वतन्त्रता मे उनकी रुचि कम नही हुई और तब तक जीवित रहे जब तक भारत उनकी सत्तरवी वषगाठ पर, १५ अगस्त सन् १६४७ को स्वतन्त्र नही हो गया।

# परिशिष्ट

# परिशिष्ट

## १५ अगस्त १९४७

१५ अगस्त १९४७ स्वतन्त्र भारत का जन्मदिन है। यह उसके पुराने युग के अन्त और नये युग के आरम्भ का सूचक है। परन्तु हम स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से अपने काय और जीवन से इस दिन को सम्पूण ससार के लिए एक नये युग का विहान, समग्र मानवता के राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक भविष्य के भोर का रूप भी दे सकते है।

१५ अगस्त मेरा भी जन्मदिन है और यह मेरे लिए हर्ष की वात है कि उसका इतना वडा महत्त्व हो गया है। मैं इस सयोग को एक आकस्मिक घटना नही, वल्कि अपने कामो की मार्ग-दर्शिका परम दिव्य शक्ति की स्वीकृति और अनुमोदन-मुद्रा समझता हूँ। उसी के निर्देशन मे मैंने जीवन का आरम्भ किया था और १५ अगस्त उस काम की पूण सफलता के आरम्भ का दिन है। आज के दिन मैं देख सकता हूँ कि जिन विश्व-आन्दोलनो की व्यावहारिक सफलता तव स्वप्न मालूम पडती थी, लेकिन मैं अपने जीवन काल मे ही जिनकी पूर्ति की आशा करता था, वे अव पूरे हागे या पूणता की ओर अग्रसर होगे। इन आन्दोलना मे स्वतन्त्र भारत का महत्त्वपूण योग होगा और शायद वह अग्रणी वनेगा।

मेरा पहला स्वप्न था एक क्रान्तिकारी आन्दोलन, जो एक स्वतन्त्र और सगठित भारत की सृष्टि कर सके। आज भारत स्वतन्त्र है, किन्तु उसमे एकता नही है। एक वार तो ऐसा लगता था कि स्वतन्त्र होने के साथ ही साथ वह अलग-अलग प्रान्ता मे बँटकर उसी अव्यवस्था के गत मे पड जाएगा जो ब्रिटिश आगमन के पहले थी। लेकिन सौभाग्य से यह विपत्ति टल जाने वाली लगती है, और एक वडे और शक्तिसम्पन्न, यद्यपि अपूण राष्ट्र स्थापित होगा। सविधान

सभा की विवेकपूर्ण सशक्त नीति से प्रतीत होने लगा है कि दलित वर्गों की समस्या किसी विच्छेद और फूट के बिना सुलझा ली जाएगी। लेकिन हिंदुओं और मुसलमानों का पुराना साम्प्रदायिक विद्वेष अब विकट होकर देश के स्थायी राजनीतिक विभाजन का रूप ले चुका दीखता है। आशा है कि विभाजन का यह निश्चय सतत् निश्चय नहीं बल्कि एक अस्थायी सामयिक आवश्यकता मात्र सिद्ध होगा, क्योंकि यदि यह स्थिति स्थायी हो गई तो भारत बुरी तरह कमजोर, यहां तक कि अपंग हो जाएगा। नागरिक झगड़े हमेशा होते रहेंगे, शायद विदेशी आक्रमण और शासन भी सम्भव हो जाए। भारत की आन्तरिक उन्नति और समृद्धि रुक जाएगी, अन्य राष्ट्रों के बीच वह कमजोर पड़ जाएगा, उसका अस्तित्व तक खतरे में पड़ सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। विभाजन का अन्त होना ही चाहिए। हमें आशा करनी चाहिए कि शान्ति और मैत्री की ही नहीं, सम्मिलित कारवाई के, उनके व्यवहार के और उस उद्देश्य की प्राप्ति के उपायों की खोज को अधिकाधिक मान्यता मिलेगी और विभाजन का अन्त अपने आप हो जाएगा। इस तरह अन्त में किसी न किसी रूप में एकता स्थापित हो जाएगी—उसका रूप कैसा होगा, इसका महत्त्व व्यावहारिक होगा, मौलिक नहीं। किन्तु किसी भी उपाय से, किसी भी तरीके से विभाजन समाप्त हो जाना चाहिए। एकता होगी और अवश्य होगी, क्योंकि भारत के भविष्य की महानता के लिए वह आवश्यक है।

दूसरा स्वप्न एशिया की जनता की स्वतन्त्रता और नवजागरण का और मानव सभ्यता की प्रगति में उसके प्रमुख भाग लेने का था। एशिया जाग उठा है, अधिकांश देश लगभग स्वतन्त्र हैं या स्वतन्त्र हो रहे हैं, शेष पराधीन हैं या लगभग पराधीन हैं और स्वातन्त्र्य के लिए अनिवार्य संघर्ष कर रहे हैं। थोड़ा ही रास्ता शेष रह गया है, जो निकट भविष्य में पूरा हो जाएगा। भारत को इसमें भी भूमिका निभानी है। उसने सोत्साह और कुशलतापूर्वक अपना काम आरम्भ कर दिया है, यह भविष्य की सम्भावनाओं का द्योतक है कि राष्ट्रों की सभा में भारत महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा।

तीसरा स्वप्न था विश्व-एकता, जो सारी मानवता के लिए एक अधिक उपयुक्त, अधिक उज्ज्वल और अधिक श्रेष्ठ जीवन का आधार बने। ससार का यह एकीकरण हो रहा है। एक अधूरी शुरुआत हो चुकी है, किन्तु वह भयकर कठिनाइयो से जूझ रही है। लेकिन गतिशीलता है, वह निस्सदेह तीव्र होगी और विजय पाएगी। इस क्षेत्र मे भी भारत ने मुख्य भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है। यदि वह एक ऐसी विशालतर राजनीतिज्ञता का विकास कर सका जो वर्तमान तथ्यो और तात्कालिक सम्भावनाओ तक सीमित न रह कर भविष्य की ओर देखती है और उसको अधिक निकट लाती है, तो उसकी उपस्थिति से बहुत अन्तर आ जाएगा, और मन्द और रुक रुक कर होनेवाले विकास का स्थान साहसपूर्ण और तीव्र प्रगति ले लेगी। बीच मे विपत्ति आ सकती है और किए धरे को नष्ट कर सकती है, लेकिन तब भी अतिम परिणाम निश्चित है। एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है, एक अपरिहार्य गति है। वह राष्ट्रो के लिए भी आवश्यक है, क्योकि उसके बिना छोटे राष्ट्रो का स्वातन्त्र्य किसी भी समय विपत्ति मे पड सकता है, और बडे और प्रबल राष्ट्रो का जीवन भी अरक्षित हो सकता है। एकीकरण सबकी भलाई के लिए है और केवल मानवीय दुर्बलता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थ ही उसे रोक सकता है। लेकिन प्रकृति की आवश्यकता और विधाता के विधान के सामने ये भी हमेशा बाधक नही रह सकते। परन्तु एक ऊपरी आधार मात्र काफी नही है, अन्तर्राष्ट्रीय भावना और दृष्टिकोण का विकास होना चाहिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और सस्थाओ की उत्पत्ति होनी चाहिए, और शायद दोहरी या अनेकमुखी नागरिकता, सस्कृतियो के इच्छानुसार विनिमय या स्वेच्छया समन्वय आदि का विकास होना चाहिए। ऐसा होने पर राष्ट्रीयता अपनी पूर्णता को पहुँच सकेगी, अपनी उग्रता खो देगी तथा अपनी आत्मरक्षा और अपने दृष्टिकोण की सम्पूर्णता के लिए इन बातो को घातक नही समझेगी। मानव-जाति मे एकता की एक नई भावना का उदय होगा।

एक और स्वप्न, अर्थात ससार को भारत की आध्यात्मिक देन का स्वप्न, फलीभूत होना आरम्भ हो चुका है। भारत की आध्यात्मिकता

यूरोप और एशिया मे अधिकाधिक प्रवेश कर रही है। यह गति बढती जाएगी। आधुनिक काल की विपत्तिया के बीच अधिक से अधिक आशा भरी दृष्टियाँ उसकी ओर लगी है और उसके सिद्धान्ता और उपदेशा के साथ उसकी आध्यात्मिक और मानसिक साधना का अधिकाधिक सहारा लिया जा रहा है।

अतिम स्वप्न विकास के एक सोपान का था जो मनुष्य को चेतना के उच्चतर और विशालतर स्तर पर ले जाएगा और उन सारी समस्याओ का समाधान प्रारम्भ कर देगा, जिन्होने मनुष्य को तब मे पीडित और व्याकुल कर रखा है जब से उसने पहले-पहल व्यक्तिगत पूणता और एक पूण समाज पर विचार करना और उसका स्वप्न देखना प्रारम्भ किया था। यह अभी भी मेरी एक व्यक्तिगत अभिलाषा और विचार है, एक ऐसा आदश है जो भारत और पाश्चात्य देशा के प्रबुद्ध लोगो मे उदित होने लगा है। इस माग की कठिनाइया अय किसी भी क्षेत्र की कठिनाइया से अधिक प्रबल ह। पर कठिनाइया जीतने के लिए ही होती है और यदि वह परम शक्ति विद्यमान है ता उन पर विजय अवश्य पाई जा सकेगी। इस क्षेत्र म विकास आत्मा और आन्तरिक चेतना की उन्नति मे हो सकता है और इसकी प्ररणा भारत से ही मिल सकती है। कार्य-क्षेत्र विश्वव्यापी होना चाहिए, किन्तु केन्द्रीय गति भारत मे ही जम लेगी।

भारत के मुक्ति दिवस के अवसर पर मैं यही कह सकता हूँ। इस आशा का औचित्य सिद्ध होगा या नही, और हागा ता किस सीमा तक, यह नये और स्वाधीन भारत पर ही निभर है।

